

August 2018

Bulletin of Sri Aurobindo
International Centre of Education

श्रीअरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा-केन्द्र पत्रिका

(हिन्दी-विभाग)

अगस्त २०१८



श्रीअरविन्द आश्रम
पॉण्डिचेरी, भारत

बुलेटिन अगस्त २०१८

विषय-सूची

राष्ट्रीय शिक्षण पद्धति	श्रीअरविन्द	३
चम्पकलाल के साथ पत्र-व्यवहार	श्रीमाँ	९
वास्तविक कठिनाई	श्रीअरविन्द	१८
श्रीअरविन्द के विषय में श्रीमाँ के वचन	श्रीमाँ	२०
श्रद्धा और निष्ठा	श्रीअरविन्द	२२
अप्रैल १९७२ के दो वार्तालाप	श्रीमाँ	२६
श्रीअरविन्द के उत्तर (६९)		३१

राष्ट्रीय शिक्षण पद्धति (३)

नैतिक स्वभाव

मनुष्य की मितव्ययता में मानसिक स्वभाव नैतिक पर अवलम्बित होता है और जो बौद्धिक शिक्षा नैतिक और भावात्मक प्रकृति की पूर्णता से अलग रहती है वह मानव-प्रगति के लिए हानिकर होती है। फिर भी, यद्यपि मन के प्रशिक्षण के लिए एक प्रकार का कार्यक्रम या पाठ्यक्रम निर्धारित कर देना सरल है, लेकिन आधुनिक परिस्थितियों में विद्यालयों और महाविद्यालयों के लिए उचित नैतिक प्रशिक्षण की व्यवस्था करना सम्भव नहीं हुआ है। नैतिक और धार्मिक पाठ्य-पुस्तकें पढ़ा कर बच्चों को नैतिक और धार्मिक बनाने का प्रयास निस्सार भ्रान्ति है। मुख्य कारण यह है कि हृदय मन नहीं है और यह ज़रूरी नहीं है कि मन को प्रशिक्षित करने से हृदय बदल जाये। यह कहना भी ग़लत होगा कि इसका कोई असर नहीं होता। यह अन्तःकरण में कुछ विचारों के बीज फैला देता है और अगर इन विचारों का अभ्यास हो जाये तो आचरण पर उनका असर पड़ता है। लेकिन नैतिक पाठ्य-पुस्तकों से यह बड़ा संकट होता है कि वह उच्चतर वस्तुओं के बारे में विचार को यान्त्रिक और कृत्रिम बना देता है और जो कुछ यान्त्रिक और कृत्रिम है वह शुभ के लिए सक्रिय या व्यावहारिक नहीं होता।

मनुष्य की नैतिक प्रकृति के साथ व्यवहार करते हुए तीन चीज़ें अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होती हैं—भाव, संस्कार या बनी हुई आदतें और सम्बन्ध और स्वभाव। अपने-आपको नैतिक दृष्टि से प्रशिक्षित करने का एक ही तरीका है, अपने-आपको समुचित भावों, उदात्ततम सम्बन्धों, सर्वोत्तम मानसिक, भावनात्मक और भौतिक आदतों के लिए अभ्यस्त करना और अपनी तत्त्वगत प्रकृति के मौलिक आवेगों का समुचित क्रिया में अनुसरण करना। तुम बच्चों पर एक विशेष प्रकार का नियन्त्रण थोप सकते हो। उन्हें एक ख़ास तरह की वेश-भूषा पहना दो, वाञ्छित पथ पर उन्हें हाँक दो, लेकिन जब तक तुम उनके हृदय और प्रकृति को अपने साथ नहीं ले लेते तब तक इस आरोपित अनुशासन का अनुमोदन आडम्बरपूर्ण, हृदयहीन, रूढ़िगत और प्रायः भीरुतापूर्ण पालन होता है। यूरोप में यही किया जाता है और इसी के परिणामस्वरूप वह स्थिति आती है जिसे अंगरेज़ी में जंगली जौ बोना कहते हैं, यानी, घर में और विद्यालय में गरदन से जूआ उतरते ही सब तरह का जंगलीपन शुरू हो जाता है और इसी से सामाजिक ढाँगा आता है जो यूरोपीय जीवन का एक बहुत बड़ा अंश है। मनुष्य जिस चीज़ की सराहना करता है और जिसे स्वीकार करता है वही उसका अपना अंश बन सकती है, बाक़ी सब छद्मवेश ही रहता है। वह जैसे घर और विद्यालय में नैतिक रूढ़ि का पालन करता है उसी तरह समाज के अनुशासन के अनुसार चलता है, लेकिन अपने आन्तरिक और व्यक्तिगत जीवन में, अपने वास्तविक जीवन

में अपने मन के मुताबिक, अपने आवेगों के अनुसार चलने के लिए अपने-आपको स्वच्छन्द मानता है। दूसरी ओर, नैतिक और धार्मिक शिक्षा की पूरी-पूरी अवहेलना करने से मानवजाति भ्रष्ट हो जाती है। स्वदेशी-आन्दोलन के रक्षक स्पर्श से पहले का, भारतीय युवकों में फैला कुख्यात भ्रष्टाचार, अंगरेज़ी शिक्षा-प्रणाली के अनुसार शुद्ध रूप से मानसिक शिक्षा देने का सीधा परिणाम था। सेंट्रल हिन्दू कॉलेज जैसी संस्थाओं में भारतीय वेश-भूषा में अंगरेज़ी पद्धति अपनाने का परिणाम हमें यूरोपीय परिणाम की ओर ही ले जायेगा। उसके पक्ष में बस यही कहा जा सकता है कि वह कुछ नहीं से अच्छा है।

जैसा मन की शिक्षा के लिए है उसी तरह हृदय की शिक्षा के लिए भी सबसे अच्छा उपाय यही है कि बालक को उसकी अपनी पूर्णता के सीधे मार्ग पर लगा दिया जाये और उसे उस पर चलने के लिए प्रोत्साहित किया जाये। उस पर नज़र रखी जाये, सुझाव दिये जायें, सहायता की जाये, पर उसमें हस्तक्षेप न किया जाये। अंगरेज़ों की छात्रावास-प्रणाली में एक बात बहुत अच्छी है कि वहाँ अध्यक्ष, अपने अच्छे-से-अच्छे रूप में, नैतिक पथ-प्रदर्शक और उदाहरण के रूप में रहता है। वह विद्यार्थियों को दिखाये गये मार्ग पर चलने के लिए चुपचाप चलने, एक-दूसरे की मदद करने और एक-दूसरे पर प्रभाव डालने के लिए छोड़ देता है। परन्तु जो पद्धति अपनायी जाती है वह अनगढ़ और अतिशय बाहरी अनुशासन के कारण बिगड़ी हुई है। उसके लिए विद्यार्थियों में मान नहीं, भय होता है, आन्तरिक सहायता भी कम ही रहती है। इससे जो थोड़ा-बहुत लाभ होता है उससे हानि कहीं अधिक होती है। नैतिक अनुशासन के लिए प्राचीन भारतीय पद्धति बहुत अधिक उत्कृष्ट थी जिसमें गुरु अपने ज्ञान और अपनी पवित्रता के कारण शिष्य से निर्विवाद आज्ञापालन, पूर्ण सराहना, आदरपूर्ण अनुकरण पाता था। अब उस प्राचीन पद्धति को फिर से स्थापित करना असम्भव है, लेकिन भाड़े के प्रशिक्षक या हितकारी पुलिस-यूरोपीय पद्धति ने शिक्षक को यही तो बना दिया है—की जगह बुद्धिमान् मित्र, पथ-प्रदर्शक और सहायक रखना असम्भव नहीं है।

नैतिक प्रशिक्षण का पहला नियम है सुझाव देना या निमन्त्रण देना। सुझाव देने का सबसे अच्छा तरीका है व्यक्तिगत उदाहरण, रोज़ की बातचीत और रोज़ाना पढ़ी जाने वाली किताबें। छोटे बच्चों के लिए इन किताबों में भूतकाल के महान् उदाहरण नैतिक सीख के रूप में नहीं, मानव रस के उत्कृष्ट उदाहरणों के रूप में दिये जायें और बड़े विद्यार्थियों के लिए महान् आत्माओं के महान् विचार, उच्चतम भावों को जगाने वाले, उच्चतम आदर्शों और अभीप्साओं को प्रेरित करने वाले साहित्य के अंश, इतिहास और जीवनी के ऐसे प्रसंग जो इन महान् विचारों, उदात्त भावों और अभीप्सा-भरे आदर्शों को जीवन में उतारने के उदाहरण हों। यह ऐसा सत्संग है जो प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकता, बशर्ते कि आडम्बरपूर्ण उपदेशों से बचा जाये। यह बहुत ज़्यादा प्रभावशाली हो सकता है यदि स्वयं अध्यापक का जीवन उन महान् आदर्शों में ढला हो जिन्हें वह अपने विद्यार्थियों के सामने रख रहा है। फिर भी इसमें पूरी शक्ति तब तक नहीं आ सकती जब तक युवा जीवन को अपने सीमित क्षेत्र में, अपने अन्दर उठने वाले

नैतिक आवेगों को मूर्त रूप देने का अवसर न मिले। आर्यों के विशेष गुण ये हैं : ब्राह्मण के लिए ज्ञान-पिपासा, आत्मोत्सर्ग, पवित्रता और त्याग; क्षत्रिय के लिए साहस, उत्साह, स्वमान, उदात्तता, शौर्य; वैश्य के लिए उपकारिता, कौशल, उद्योग, उदारतापूर्ण उद्यम और मुक्तहस्तवृत्ति; और शूद्र के लिए निःस्वार्थ और प्रेमपूर्ण सेवा। ये गुण हैं जिन्हें हम अपने युवकों में और सारे राष्ट्र में देखना चाहते हैं। लेकिन यदि हम बच्चों को अपने-आपको आर्य-परिपाटी के अनुसार प्रशिक्षित करने का अवसर न दें, बचपन और किशोरावस्था के अभ्यास और परिचय के द्वारा वह द्रव्य तैयार न करने दें जिससे उनका प्रौढ़ जीवन बनेगा तो यह कैसे सम्भव हो सकता है ?

इसलिए हर बच्चे को उसके स्वभाव में जो कुछ सर्वोत्तम है उसे विकसित करने के लिए क्रियात्मक अवसर और बौद्धिक प्रोत्साहन मिलना चाहिये। अगर उसके अन्दर मन या शरीर के दुर्गुण, बुरी आदतें, बुरे संस्कार हों तो उसके साथ अपराधी जैसा व्यवहार न किया जाये, बल्कि राजयोग के बताये गये संयम, त्याग और प्रस्थापना के द्वारा उनसे पिण्ड छुड़ाने के लिए प्रोत्साहित किया जाये। उसे इस बात के लिए प्रोत्साहित किया जाये कि वह इन चीजों को पाप या अपराध के रूप में न लेकर एक साध्य रोग के लक्षणों के रूप में ले, यह जाने कि स्थिर और सतत संकल्प के प्रयास से इन्हें बदला जा सकता है। जब कभी मन में मिथ्यात्व सिर उठाये तो उसे अस्वीकार करके उसकी जगह सत्य को बिठाया जाये, भय के स्थान पर साहस, स्वार्थ की जगह त्याग और आत्मोत्सर्ग, दुर्भावना की जगह प्रेम को लाया जाये। इस बात की विशेष सावधानी रखनी होगी कि कहीं अस्पष्ट और अविकसित गुणों को दोष मान कर न त्याग दिया जाये। बहुत-से युवा स्वभावों में जंगलीपन और लापरवाही, बहुत अधिक बल, महानता और उदात्तता के उफान होते हैं। उन्हें दबाने की जगह शुद्ध करना चाहिये।

मैंने नैतिकता की बात की है। यहाँ धार्मिक शिक्षा के बारे में भी एक-दो शब्द कह देना ज़रूरी है। एक अजीब-सी मान्यता प्रचलित है कि किसी धर्म के रूढ़ सिद्धान्त पढ़ा देने से ही बच्चे धार्मिक और नैतिक बन सकते हैं। यह एक यूरोपीय भूल है और इसे मान लेने से या तो लोग यान्त्रिक रूप में किसी मत को स्वीकार कर लेते हैं जिसका उनके आन्तरिक जीवन पर कोई असर नहीं होता और बाहरी जीवन पर भी न के बराबर ही होता है; या फिर इससे मतान्ध, भक्तिवादी, कर्मकाण्डी, अनगढ़, पण्डिताऊ ढोंगी पैदा होते हैं। धर्म को मत के रूप में पढ़ने की जगह जीवन में उतारना चाहिये। बंगाल की तथाकथित राष्ट्रीय शिक्षा ने जो रास्ता अपनाया कि धार्मिक मतों की शिक्षा को अनिवार्य बना दिया, लेकिन धार्मिक क्रियाओं के अनुष्ठान पर रोक लगा दी, यह अज्ञानपूर्ण अस्तव्यस्तता का नमूना है जो मानव मन को धर्म से दूर हटा देता है। और इस निषेध का अर्थ होगा, घोषित या छिपी हुई धर्म-निरपेक्षता के मुँह में निवाला देना, यानी उसे प्रोत्साहित करना। किसी धार्मिक शिक्षा का तब तक कोई मूल्य नहीं जब तक उसे जीवन में न उतारा जाये, और धार्मिक जीवन की उपयोगी तैयारी के लिए विभिन्न प्रकार की साधनाएँ ज़रूरी हैं। प्रार्थना, श्रद्धाञ्जलि आदि के समारोहों के लिए बहुत-से मन तरसते हैं। यह उनके लिए आवश्यक तैयारी है। यह अपने-आपमें उद्देश्य नहीं, पर आध्यात्मिक प्रगति

में बहुत सहायक अवश्य है। अगर इसे हटा दिया जाये तो ध्यान, भक्ति या धार्मिक कर्तव्य के किसी और रूप को इसके स्थान पर रखना होगा। अन्यथा धार्मिक शिक्षा का कोई उपयोग न रहेगा और उसे न देना ही ज़्यादा अच्छा होगा।

लेकिन हर ऐसे विद्यालय में जो अपने-आपको राष्ट्रीय कहता है, चाहे स्पष्ट रूप में धार्मिक शिक्षा दी जाये या न दी जाये, धर्म के सारतत्त्व, भगवान् के लिए, मानवजाति के लिए, देश के लिए, औरों के लिए जीने के आदर्श को ज़रूर अपनाना चाहिये। हमारे विद्यालयों में व्याप्त हिन्दुत्व का भाव—भारतीय विषय या भारतीय साधनों से, या सीधा भारतीय विश्वासों और भारतीय ग्रन्थों की पढ़ाई से कहीं अधिक—ही राष्ट्रीयता का वह सारतत्त्व होना चाहिये जो हमारे विद्यालयों को अन्य विद्यालयों से विशेष बनाये।

(४)

समकालिक और अनुक्रमिक शिक्षण

भारत में आधुनिक शिक्षण की एक विशेष चीज़ जो असंगति की हद तक पहुँच गयी है यह अभ्यास है कि हर चीज़ थोड़ी-थोड़ी करके, फुटकर रूप में पढ़ायी जाये। एक विषय एक समय में थोड़ा-थोड़ा करके अन्य बहुत सारे फुटकर विषयों के साथ पढ़ाया जाता है और परिणाम यह होता है कि जो विषय एक वर्ष में अच्छी तरह सीखा जा सकता था वह बुरी तरह से सात वर्षों में सीखा जाता है और बालक पूरी तरह तैयार हुए बिना ही निकल जाता है; उसके पास ज्ञान के अपूर्ण पैकेट तो होते हैं, पर वह मानव ज्ञान के किसी महा-विभाग का भली-भाँति ज्ञाता नहीं बन पाता। नैशनल काउंसिल—जो उभयचर, दोहरे स्वभाववाली रचना है—ने जो शिक्षा-पद्धति अपनायी है उसने प्रारम्भिक और माध्यमिक वर्गों में तो इस तरह फुटकर विषय पढ़ाने की पद्धति को ही बढ़ावा दिया है, परन्तु ऊपर आकर वह अचानक आडम्बरपूर्ण विशेषज्ञता में बदल जाती है। यह तो ऐसा है जैसे किसी त्रिकोण को उसके शिखर-बिन्दु पर खड़ा कर दिया जाये और यह आशा की जाये कि वह टिका रहेगा।

प्राचीन पद्धति यह थी कि एक या दो विषय ख़ूब अच्छी तरह पढ़ाये जाते थे और उसके बाद दूसरे विषय लिये जाते थे। निश्चय ही यह आधुनिक पद्धति की अपेक्षा अधिक युक्तियुक्त तरीक़ा था। वह इतनी विविध प्रकार की सूचनाएँ भले न देता हो, परन्तु ज़्यादा गहरी, उदात्त और वास्तविक संस्कृति अवश्य देता था। आधुनिक औसत मन का बहुत-सा छिछलापन, असम्बद्ध छिछोरापन, चञ्चल अस्थिरता का कारण फुटकर पढ़ाई के सिद्धान्त का ऋणी है। प्राचीन पद्धति के विरुद्ध जो एक दोष आरोपित किया जा सकता है वह यह है कि पहले सीखा हुआ विषय दूसरा विषय सीखते समय विद्यार्थी के मन से उतर सकता है। लेकिन प्राचीन लोग स्मरण-शक्ति का जो अच्छा अभ्यास करवा देते थे वह इस

दोष से रक्षा करता था। भावी शिक्षा के लिए हमारा प्राचीन या वर्तमान पद्धति के साथ बँधना ज़रूरी नहीं है। हम ज्ञान-प्राप्ति के पूर्णतम और द्रुत साधन अपना सकते हैं।

आधुनिक पद्धति के पक्ष में यह कहा जाता है कि बालकों का ध्यान जल्दी ही थक जाता है और उन पर एक ही विषय पर लम्बे समय तक एकाग्र होने का भार नहीं डाला जा सकता। विषय बार-बार बदलने से मन को आराम मिल जाता है। यहाँ स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि क्या आधुनिक बालक प्राचीन काल के बालकों से इतने भिन्न हैं? अगर ऐसे हैं भी तो क्या इसका कारण यह नहीं है कि हमने लम्बे समय तक एकाग्र हो सकने की क्षमता को हतोत्साह करके उन्हें ऐसा बना दिया है? यह ठीक है कि बहुत छोटा बच्चा इस तरह मन लगाने के क्राबिल नहीं होता, लेकिन फिर बहुत छोटा बच्चा किसी प्रकार के विद्यालय के शिक्षण के योग्य भी नहीं होता। सात-आठ वर्ष का बालक—यही वह कम-से-कम आयु है जब नियमित विद्याध्ययन शुरू किया जा सकता है,—यदि किसी विषय में रस ले तो काफ़ी एकाग्र हो सकता है। आखिर रस ही तो एकाग्रता का आधार है। हम बच्चों के पाठ को बहुत अरुचिकर और अनाकर्षक बना देते हैं। शिक्षण का आधार होता है कठोर दबाव और फिर हम बेचैनी और एकाग्रता के अभाव की शिकायत करते हैं। वर्तमान अस्वाभाविक पद्धति के स्थान पर स्वाभाविक आत्म-शिक्षण आ जाये तो अक्षमता-विषयक आपत्ति दूर हो जायेगी। वयस्क मनुष्य की तरह बालक भी अगर किसी विषय में रस ले तो उसे अधूरा छोड़ने की जगह अन्त तक जाना पसन्द करेगा। पढ़ाने की सच्ची कला है विद्यार्थी को एक-एक क्रम करके, हर क्रम पर रुचि और रस पैदा करते हुए आगे ले जाना, यहाँ तक कि वह अपने विषय पर पूरा प्रभुत्व पा ले।

अध्यापक को सबसे पहले माध्यम और उपकरणों की ओर ध्यान देना चाहिये। जब तक ये पक्के न हो जायें तब तक नियमित अध्यापन के विषय पढ़ाना शक्ति और समय का अपव्यय है। जब मानसिक उपकरण किसी भाषा को आसानी से और तेज़ी से ग्रहण करने के लिए काफ़ी विकसित हो जायें तब कई भाषाओं के साथ परिचय कराने का समय होता है, उस समय नहीं जब वह उसे जो कुछ सिखाया जाये उसे कठिनाई के साथ अधूरे रूप में पकड़ पाता है। और फिर जब कोई अपनी भाषा पर अधिकार पा ले तभी उसमें अन्य भाषाओं पर अधिकार पाने की क्षमता आती है। जब अपनी ही भाषा में भाषाई क्षमता भली-भाँति विकसित न हुई हो तब अन्य भाषाओं पर अधिकार पाना असम्भव है। अवलोकन, निर्णय, तर्क और तुलना करने की क्षमताओं के ज़रा-से विकास के साथ ही भौतिक विज्ञान का अध्ययन आरम्भ कर देना एक व्यर्थ और अनुपयोगी श्रम है। और विषयों के बारे में भी यही बात है।

मातृभाषा शिक्षा का उचित माध्यम है, इसलिए बच्चे की पहली शक्तियाँ उसी पर अधिकार पाने में खर्च होनी चाहियें। प्रायः हर एक बच्चे में कल्पना-शक्ति, शब्दों के लिए नैसर्गिक प्रवृत्ति, नाटकीय क्षमता, विचार आदि चीज़ें होती हैं। इन्हें देश के साहित्य और इतिहास में रसपूर्ण तरीक़े से प्रस्तुत करना चाहिये। मूर्खतापूर्ण और शुष्क वर्तनी की पुस्तकों की जगह—यह सूखा और बेकार का काम माना जाता है—क्रमशः उसका परिचय अपने साहित्य के सबसे अधिक

रुचिकर भाग से करवाना चाहिये। उसका अपने आस-पास के जीवन के साथ इस तरह परिचय कराना चाहिये कि वे उसके उन गुणों को आकर्षित करें जिनकी मैंने अभी बात की है। इस समय का बाक्री सारा अध्ययन मानसिक क्षमताओं और नैतिक चरित्र को पूर्ण बनाने में लगना चाहिये। इस समय इतिहास, विज्ञान, दर्शन, कला के अध्ययन की नींव रखी जानी चाहिये, परन्तु दुराग्रही और औपचारिक ढंग से नहीं। हर एक बालक मज्जेदार वर्णन का प्रेमी और वीर-पूजा करने वाला देशप्रेमी होता है। उसकी इन क्षमताओं को विकसित करो और उसके बिना जाने उसे अपने देश के इतिहास के जीवन्त और मानव अंशों का ज्ञान पाने दो। हर एक बालक प्रश्नकर्ता, शोधकर्ता, विश्लेषक और निर्दय शरीरशास्त्री होता है। उसकी इन क्षमताओं को आकर्षित करो और उसे बिना जाने वैज्ञानिक का स्वभाव और वैज्ञानिक का आधारभूत ज्ञान पाने दो। हर बच्चे में न बुझने वाली बौद्धिक उत्सुकता होती है, तत्त्वज्ञान-सम्बन्धी खोज की ओर प्रवृत्ति होती है। इसका धीरे-धीरे उपयोग करके उसे अपने-आपको और जगत् को समझने की ओर प्रवृत्त करो। हर बच्चे में अनुकरण करने की क्षमता और कल्पना-शक्ति का पुट होता है। इनका उपयोग करके उसके अन्दर कलाकार की क्षमता की नींव रखो।

हम प्रकृति को काम करने दें तो हम उसके प्रदान किये हुए उपहारों का लाभ उठा सकते हैं। मानवजाति ने अपने बच्चों की शिक्षा में, उसकी पद्धतियों में बाधा डालने और उन्हें व्यर्थ करने का काम चुना है और यह करते हुए उसकी अग्रगति में बाधा डालने और उसे व्यर्थ करने के लिए बहुत कुछ किया है। ख़ुशी की बात है कि अब ज़्यादा समझदारी के विचार प्रबल हो उठे हैं। लेकिन अभी तक मार्ग नहीं मिला है। अपनी समस्त भूल-भ्रान्तियों और पक्षपातों के साथ भूतकाल हमारी गरदन में लटक रहा है और हमें छोड़ने से इन्कार करता है। हम जब परम मेधावी माँ के पथ-प्रदर्शन की ओर लौटने के लिए उग्र प्रयास करते हैं तो वह उनमें घुस पड़ता है। हमारे अन्दर यह साहस होना चाहिये कि अधिक स्पष्ट ज्ञान को अपना सकें और बिना किसी भय के, आने वाली पीढ़ियों के लाभ के लिए उसका उपयोग करें। फुटकर विषयों की पढ़ाई को मृत दुःखों के कबाड़खाने में धकेल दें। पहला काम है बच्चे के जीवन में कर्म और ज्ञान के लिए रस पैदा करना, उसके ज्ञान के साधनों को सम्पूर्ण रूप से विकसित करना, वह जिस माध्यम का उपयोग करने वाला है उस पर उसे पूरा अधिकार दिलाना। इस तरह नियमित अध्ययन शुरू करने में जो देर लग जायेगी उसकी कमी वह तेज़ी से ज्ञानार्जन करके पूरी कर लेगा। जहाँ आज वह कुछ चीज़ें बुरी तरह सीखता है वहाँ बहुत-सी चीज़ें पूर्णतया अच्छी तरह सीख पायेगा।

—श्रीअरविन्द

चम्पकलाल के साथ पत्र-व्यवहार

(२)

(फ़रवरी १९०२ में जन्मे, गुजराती साधक चम्पकलाल पुराणी, १९ साल की उम्र में मई १९२१ में पहली बार श्रीअरविन्द और श्रीमाँ से मिले। दो साल बाद वे हमेशा के लिए उनके साथ पॉण्डिचेरी में रहने लगे। शुरू से ही चम्पकलाल ने माँ के निकट रह कर काम किया और पचास सालों तक उनके कामों में सहायता की। उन्होंने लगभग २५ सालों तक श्रीअरविन्द के व्यक्तिगत सहायक के रूप में उनकी सेवा की। अपने जीवन के आखिरी २० साल उन्होंने भारत और विदेश की लम्बी-चौड़ी यात्राएँ कीं। मई १९९२ में ९० साल की उम्र में उनका देहान्त हुआ। १९३० से लेकर १९७३ तक चम्पकलाल का पत्र-व्यवहार श्रीमाँ के साथ अंग्रेज़ी में चला।)

जन्मदिवस के सन्देश

लाल कमल—पृथ्वी पर परम अभिव्यक्ति का प्रतीक।

श्वेत कमल—दिव्य चेतना का प्रतीक।

२ फ़रवरी १९३०

*

चम्पकलाल को,

यह साल प्रगति और रूपान्तर का साल हो—‘दिव्य उपलब्धि’ की ओर ले जाने वाला एक और क्रदम।

२ फ़रवरी १९३०

*

चम्पकलाल को उसके जन्मदिन पर,

जो चीज़ें सबसे कठिन, सबसे असम्भावित और शायद सबसे अधिक असम्भव लगती हों वे पूरी तरह प्राप्य हो जाती हैं क्योंकि ‘परम प्रभु की उपस्थिति’ हमारे लिए यह आश्वासन है कि स्वयं भौतिक जगत् ‘उनकी इच्छा’ और ‘उनके विधान’ के नये रूप को प्रकट करने के लिए तैयार है।

मेरे आशीर्वाद सहित।

२ फ़रवरी १९३३

इस साल समभाव को पाने की कोशिश करो।

२ फ़रवरी १९४०

*

इस वर्ष तुम्हें उस विरोधी सुझाव से पूरी तरह बाहर आ जाना चाहिये जो तुम्हें परेशान करता रहता है, उसे इस तरह अस्वीकार करो कि वह कभी वापस मुड़ कर न आये। तुम्हारा घर, तुम्हारा स्थान और तुम्हारी उपलब्धि यहीं हैं।

२ फ़रवरी १९४१

*

विरोधी शक्तियों की ओर से बारम्बार आने वाले हमलों के सामने टिके रहने के लिए तुम्हें अपनी श्रद्धा को अक्षुण्ण रखना और तब तक डटे रहना चाहिये जब तक कि 'विजय' प्राप्त न हो जाये।

२ फ़रवरी १९४२

*

ऐसा हो कि यह वर्ष तुम्हारे लिए पूर्ण उद्घाटन और सभी सीमाओं को तोड़ने का वर्ष हो।

२ फ़रवरी १९४३

*

ऐसा हो कि यह साल तुम्हारे लिए सच्ची श्रद्धा लाये—ऐसी श्रद्धा जिसे कोई अन्धकार धुँधला न सके।

२ फ़रवरी १९४४

*

मुझे यह कहने में खुशी हो रही है कि तुम्हारे खुलेपन और तुम्हारी ग्रहणशीलता में पिछले वर्ष की अपेक्षा वृद्धि हुई है। अब रुको नहीं और आने वाले वर्ष में उसे परिपूर्ण बनाओ।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद के साथ।

२ फ़रवरी १९४५

*

मेरे प्रिय बालक, अब मैं तुम्हें सच में अपना प्रिय बालक बुला सकती हूँ क्योंकि मैं तुम्हें अपने काफ़ी नज़दीक अनुभव कर रही हूँ क्योंकि तुमने मेरी बाँहों में हमेशा के लिए आश्रय

ले लिया है और मैं वहाँ अपने पूरे प्रेम के साथ तुम्हारा स्वागत करती हूँ।

२ फ़रवरी १९४६

*

मेरे प्रिय बालक, पिछले साल मैंने जो अनुमान लगाया था वह पूरी तरह से सच साबित हुआ और माँ और बच्चे का यह सम्बन्ध अपनी वास्तविकता, तीव्रता और गहराई में बहुत बढ़ गया है।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद सहित।

२ फ़रवरी १९४७

*

मेरे प्रिय बालक,

ऐसा हो कि इस वर्ष तुम्हारी ग्रहणशीलता इस हद तक बढ़े कि वह तुम्हें इतना बल प्रदान करे कि तुम उस शक्ति का पूरी तरह से उपयोग कर सको जो कार्यरत है, ताकि तुम अपने अन्दर पूर्ण स्वास्थ्य का खजाना खोज लो।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद के साथ।

२ फ़रवरी १९४८

*

तुम्हारे जन्मदिवस के अवसर पर श्रीअरविन्द का प्रेम और आशीर्वाद।

२ फ़रवरी १९४९

*

मेरे प्रिय बालक, यही वह समय है कि तुम अपनी श्रद्धा को सचमुच सक्रिय बनाओ और सभी विरोधों के सामने निश्चल-निष्कम्प खड़े रहो। श्रद्धा रखो, सच्ची श्रद्धा, ताकि तुम स्वस्थ हो जाओ और स्वास्थ्य आकर रहेगा।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद।

२ फ़रवरी १९४९

*

मेरे सबसे निष्ठावान् बालक को, सच्ची स्मृति बनाये रखने वाले को, आज मैं तुम्हें अपने पूरे भरोसे का आश्वासन देती हूँ। इसे मैंने १९५० में इस पुस्तक में नहीं लिखा था क्योंकि वह साल तुम्हारे जीवन में सबसे महत्त्वपूर्ण होने वाला था, वह साल जिसने तुम जो थे उस पर

मुहर लगा दी और तुम्हारे लिए वह द्वार खोल दिया जो तुम्हें वहाँ तक पहुँचा देगा जो तुम भविष्य में बनोगे: हमारे उन 'प्रभु' का सच्चा और पूर्ण बालक जिनकी उपस्थिति पहले कभी इतनी सम्पूर्ण न थी जितनी अब यहाँ है।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद सहित।

२ फ़रवरी १९५०-५१

*

धीरज

अध्यवसाय

सहनशीलता

श्रद्धा तथा

कभी न डिगने वाला साहस...

... हम अपने लक्ष्य तक पहुँच रहे हैं।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद के साथ।

२ फ़रवरी १९५२

*

तुम्हारे अन्दर होनी चाहिये स्थिर प्रगति और स्पष्ट समझ। समाप्त हो चुके वर्ष के ये लाभ तुम्हें मिले हैं।

बस अब तुम्हें इन्हें जारी रखना है।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद सहित।

२ फ़रवरी १९५३

*

१९४० में श्रीअरविन्द ने तुम्हें लिखा था: "अपनी चेतना को शान्त और विस्तृत बनाओ" और मैंने इस बात पर जोर दिया था कि समता प्राप्त करो। उसके बाद काफ़ी सारी चीज़ें घटी हैं, कहीं ज़्यादा प्रगति हुई है फिर भी इन चीज़ों को पूरी तरह से उपलब्ध करना अभी बाक़ी है। ऐसा हो कि ये चीज़ें इस वर्ष उपलब्ध हो जायें जो तुम्हारे लिए आज शुरू हो रहा है। अन्दर और बाहर दोनों जगह नीरव-निश्चल समता उपलब्ध करना तुम्हारे लिए महान् उपलब्धि होगी।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद सहित।

२ फ़रवरी १९५४

*

इस बार यह वर्ष तुम्हारे लिए सच्ची प्रगति का वर्ष था जो तुम्हें तुम्हारे लक्ष्य के अधिक नज़दीक और मेरे काफ़ी करीब ले आया।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद के साथ।

२ फ़रवरी १९५५

*

मेरे प्रिय बालक,

पिछले साल मैंने जो कहा, उसे दोहरा सकती हूँ—लेकिन इस बार की प्रगति कहीं अधिक महान् हुई और मेरे साथ का सामीप्य भी कहीं अधिक सच्चा और अन्तरंग रहा। तुमने पथ पर तीव्र गति से उन्नति की है—और मैं तुम्हें बस इतना कह सकती हूँ, **लगे रहो**।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद सहित।

२ फ़रवरी १९५६

*

शुभ जन्मदिन!

मेरे प्रिय बालक को।

तुम **लगे रहे**, और इस बार प्रगति बहुत अधिक ठोस और पूर्ण है। मुझे यह दृढ़ अनुभूति हो रही है कि मैं तुम पर **भरोसा** कर सकती हूँ और यह बहुत सुखद है।

अब यह प्रगति तुम्हारे शरीर में फैले और निरन्तर तुम्हें अच्छा स्वास्थ्य प्रदान करे।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद के साथ।

२ फ़रवरी १९५७

*

मेरे प्रिय बालक को—

एक और वर्ष;

पूर्ण आत्म-समर्पण में, उत्तम सेवा की ओर एक और क़दम।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद के साथ।

२ फ़रवरी १९५८

*

मेरे प्रिय बालक,

इस वर्ष कृपा ने परिस्थितियों को इस तरह सँजो दिया है कि अब तुम मेरे जितने करीब आ गये हो उतने पहले कभी न थे—और सारे समय तुमने अपने-आपको बहुत भरोसेमन्द और

प्रभावकारी साबित किया—हमेशा प्रस्तुत, जब कभी आवश्यकता हो हमेशा तैनात, जो करना चाहिये हमेशा वही करना। तुम्हारे जन्मदिन पर मुझे तुमसे यह सब कहने में प्रसन्नता हो रही है।
मेरे प्रेम और आशीर्वाद सहित।

२ फ़रवरी १९५९

*

चम्पकलाल, मेरे प्यारे बालक,

मुझे यह कहते हुए खुशी हो रही है कि तुम लगातार प्रगति कर रहे हो। जैसा कि तुमने खुद कहा कि तुम्हारी चेतना विकसित हो रही है तथा एक बार के और प्रयास से तुम जल्द ही प्रकाश में उभर आओगे और समझदार बन जाओगे।

एक और प्रयास करना है—वाणी पर संयम... चलो, प्रार्थना करें कि इस वर्ष यही भगवान् की कृपा का वरदान बने!

मेरे प्रेम और आशीर्वाद के साथ।

२ फ़रवरी १९६०

*

चम्पकलाल,

मेरे प्यारे बालक,

शुभ जन्मदिन!

बस कुछेक शब्दों की ज़रूरत है।

सब ठीक तरह चल रहा है।

लगातार हम अपने लक्ष्य की ओर बढ़ रहे हैं और तुम मेरे साथ क्रदम से क्रदम मिला कर चल रहे हो।

मेरा प्रेम और मेरे आशीर्वाद।

२ फ़रवरी १९६१

*

चम्पकलाल,

मेरे प्रिय बालक,

सब ठीक है। तुम तीव्र गति से प्रगति कर रहे हो—सिर्फ़ लगातार चलते रहना है और तुम्हारे सामने पथ अधिकाधिक स्पष्ट रूप से खुलता चला जायेगा।

मेरा प्रेम और मेरे आशीर्वाद।

२ फ़रवरी १९६२

शुभ जन्मदिन !

चम्पकलाल, मेरे प्रिय बालक

पथ पूरी तरह से खुला हुआ है और यह एक कलात्मक पथ है, इसमें तुम अपनी अन्तरात्मा को सुरुचिपूर्ण तरीके से अभिव्यक्त कर सकते हो; तुम्हारी आन्तरिक प्रगति और हृदय के प्रस्फुटन के द्वारा वह पथ अधिकाधिक स्पष्ट और प्रभावशाली हो जायेगा और वही तुम्हारी शाश्वत 'आत्मा' की सच्ची-निष्कपट अभिव्यक्ति बन जायेगा।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद के साथ।

२ फ़रवरी १९६३

*

चम्पकलाल, मेरे प्रिय बालक

एक बहुत बड़ा क्रदम ले लिया गया है, बहुत बड़ा परिवर्तन घटित हो चुका है, न केवल तुम जो करते हो—जिसमें तुम लगातार प्रगति कर रहे हो—बल्कि तुम जो हो, उसमें भी स्पष्ट रूप में तुम्हारी 'आत्मा' की उपस्थिति का स्पष्ट रूप से अनुभव हो रहा है।

यह वर्ष तुम्हारे लिए निर्णायक वर्ष है जो उपलब्धि का अग्रदूत है।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद के साथ।

२ फ़रवरी १९६४

*

चम्पकलाल

इस वर्ष मुझे स्पष्ट रूप से यह अनुभव हो रहा है कि तुम मेरा एक हिस्सा बन चुके हो। हमेशा के लिए प्यार।

२ फ़रवरी १९६५

*

चम्पकलाल,

ऐसा हो कि यह वर्ष 'भागवत चेतना' में कार्य करने के सच्चे हर्ष का आगमन देखे। प्रेम के साथ।

२ फ़रवरी १९६६

*

शुभ जन्मदिन !

चम्पकलाल को

प्रेम और आशीर्वाद सहित

बीमारी एक कसौटी की तरह आयी और उस सबको अपने साथ बहा ले गयी जो पूर्ण समर्पण के आनन्द के रास्ते में बाधा बना खड़ा था।

२ फ़रवरी १९६७

*

चम्पकलाल,

मुझे यह कहते हुए खुशी हो रही है कि तुम मेरे सच्चे बालक हो और ज़्यादा से ज़्यादा सच्चे बन रहे हो।

२ फ़रवरी १९६८

*

शुभ जन्मदिन !

चम्पकलाल

ऐसा हो कि नीरव भक्ति में पूर्ण 'प्रकाश' तुम्हारे साथ बना रहे।
मेरे प्रेम और आशीर्वाद के साथ।

२ फ़रवरी १९६९

*

शुभ जन्मदिन !

निष्ठावान् चम्पकलाल को

प्रकाश, आनन्द और प्रेम से परिपूर्ण,

एक सुखद, स्वास्थ्यकर और उपयोगी वर्ष के लिए

मेरा प्रेम और आशीर्वाद।

२ फ़रवरी १९६९

*

चम्पकलाल को शुभ जन्मदिन !

श्रीमाँ की ओर से चम्पकलाल को

'प्रेम'

'शान्ति'

'बल'

'निश्चल-नीरवता'

‘चेतना’

२ फ़रवरी १९७०

*

चम्पकलाल को

वफ़ादारी में पहला पुरस्कार

मेरे सम्पूर्ण प्रेम के साथ

शुभ जन्मदिन

आशीर्वाद

२ फ़रवरी १९७१

*

शुभ जन्मदिन

श्रीअरविन्द और श्रीमाँ के चम्पक को

सौ में से एक (चम्पकलाल के जन्मदिन के कुछ दिन पहले श्रीमाँ ने उन्हें श्रीअरविन्द के उद्धरणवाला एक ‘कार्ड’ दिया : “मुझे हजारों की तादाद में शिष्य नहीं चाहियें। मेरे लिए ऐसे सौ पूर्ण व्यक्ति पर्याप्त हैं जो अपने तुच्छ अहं से रहित हों और जो भगवान् के यन्त्र हों।”

हमेशा के लिए मेरा प्रेम, प्रशंसा, भरोसा और आशीर्वाद।

उपलब्धि की ओर ले जाने वाला पथ।

२ फ़रवरी १९७२

*

शुभ जन्मदिन

चम्पकलाल को

लक्ष्य तक पहुँचने के लिए मेरे सम्पूर्ण प्रेम, विश्वास और आशीर्वाद के साथ।

आओ, हम सदा ‘उनके’ प्रति कृतज्ञ बने रहें जिन्होंने हमें रास्ता दिखाया और निरन्तर दिखाते जा रहे हैं।

२ फ़रवरी १९७३

वास्तविक कठिनाई

वास्तविक कठिनाई हमेशा हमारे अन्दर होती है, हमारे परिवेश में नहीं। व्यक्ति को अजेय बनाने के लिए तीन चीज़ें ज़रूरी हैं—‘संकल्प’, ‘अनासक्ति’ और ‘श्रद्धा’। हमारे अन्दर अपना उद्धार करने के लिए संकल्प हो सकता है, लेकिन पर्याप्त श्रद्धा की कमी हो सकती है। हमें अपने-अपने चरम उद्धार के बारे में श्रद्धा हो सकती है परन्तु उसके लिए आवश्यक साधनों का उपयोग करने के लिए संकल्प-बल की कमी हो सकती है। और हो सकता है कि संकल्प-बल और श्रद्धा दोनों हों परन्तु हम बहुत उग्र फलासक्ति के साथ या घृणा, अन्धी उत्तेजना या ज़ोरदार उतावली के साथ उनका उपयोग करें जिससे अशुभ प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न हों। इस कारण यह ज़रूरी है कि इतने महत्त्वपूर्ण उद्देश्य के लिए मन, प्राण और शरीर से ज़्यादा ऊँची शक्ति की सहायता ली जाये ताकि अभूतपूर्व बाधाओं पर विजय प्राप्त हो सके। साधना की यही आवश्यकता है।

भगवान् हमारे अन्दर हैं। वे ‘सर्वशक्तिमान्’, ‘सर्वव्यापक’, ‘सर्वज्ञ शक्ति’ हैं। हम और वे एक ही प्रकृति के हैं और अगर हम उनके साथ नाता जोड़ कर अपने-आपको उनके हाथों में सौंप दें तो वे हमारे अन्दर अपनी शक्ति उँडेलेंगे और हम यह अनुभव कर सकेंगे कि हमारे अन्दर भी देवत्व, सर्वशक्तिमत्ता, सर्वव्यापकता और सर्वज्ञता का अपना अंश है। रास्ता लम्बा है, लेकिन आत्म-समर्पण उसे छोटा बना देता है। मार्ग कठिन है, पर पूर्ण विश्वास उसे सरल बना देता है।

संकल्प सर्वशक्तिमान् होता है, पर उसे दिव्य संकल्प होना चाहिये जो निःस्वार्थ, शान्त और परिणामों के बारे में निश्चिन्त हो। ईसा ने कहा था, “अगर तुम्हारे अन्दर राई भर श्रद्धा है तो तुम्हारे बुलाने पर पहाड़ भी तुम्हारे पास चला आयेगा।” यहाँ ‘श्रद्धा’ का अर्थ था, पूर्ण श्रद्धा और उसके साथ ‘संकल्प-शक्ति’। श्रद्धा कभी ऊहापोह नहीं करती, वह जानती है, उसके पास दृष्टि होती है और वह देख सकती है कि भगवान् क्या चाहते हैं, वह जानती है कि भगवान् जो कुछ चाहते हैं वह होकर रहेगा। श्रद्धा—अन्ध श्रद्धा नहीं, आध्यात्मिक दृष्टिवाली श्रद्धा सर्वज्ञ हो सकती है।

संकल्प सर्वव्यापक भी होता है। वह जिन-जिन के साथ सम्पर्क में आता है उन सबके अन्दर अपने-आपको फैला सकता है, उन्हें कुछ समय के लिए या स्थायी रूप में अपनी शक्ति, अपने विचार और अपने उत्साह का एक भाग दे सकता है। निःस्वार्थ और निःसन्देह विश्वासी संकल्प के द्वारा एक अकेले मनुष्य का विचार सारी जाति का विचार बन सकता है। एक अकेले वीर का संकल्प करोड़ों भीरुओं के हृदयों में वीरता जगा सकता है।

हमें यही साधना इष्ट है। हमारे उद्धार का यही मार्ग है। हम अपूर्ण श्रद्धा का अपूर्ण संकल्प और अपूर्ण अनासक्ति के साथ उपयोग करते आये हैं। लेकिन हमारे सामने जो काम है वह पहाड़ को हिलाने से कम कठिन नहीं है।

इस काम को सिद्ध करने वाली शक्ति मौजूद है, लेकिन है हमारे अन्दर छिपे हुए एक गुप्त कक्ष में और उस कक्ष की चाबी प्रभु के हाथों में है। चलो, उन्हें ढूँढ़ कर चाबी माँग लें।
१९१०

—श्रीअरविन्द

श्रीअरविन्द के विषय में श्रीमाँ के वचन

श्रीअरविन्द जगत् के लिए दिव्य भविष्य का आश्वासन लाये।

*

श्रीअरविन्द धरती पर पुराने मतों अथवा पुरानी शिक्षाओं के साथ प्रतियोगिता करने के लिए कोई शिक्षा या मत लाने के लिए नहीं आये हैं, वे अतीत को पार करने का तरीका दिखाने और सन्निकट और अनिवार्य भविष्य के लिए सुस्पष्ट मार्ग बनाने आये हैं।

२२ फ़रवरी १९६७

*

श्रीअरविन्द भविष्य के हैं; वे भविष्य के सन्देशवाहक हैं। वे अब भी हमें 'भागवत संकल्प' द्वारा निर्मित उज्ज्वल भविष्य को जल्दी चरितार्थ करने के लिए जिस राह का अनुसरण करना चाहिये वह दिखलाते हैं।

जो मानवजाति की प्रगति और भारत की ज्योतिर्मयी नियति के लिए सहयोग देना चाहते हैं, उन सबको भविष्यदर्शी अभीप्सा और प्रबुद्ध कार्य के लिए मिल कर काम करना चाहिये।

१५ अगस्त १९७१

*

श्रीअरविन्द जगत् को उस भविष्य के सौन्दर्य के बारे में बतलाने आये थे जिसे चरितार्थ होना ही है।

वे उस भव्यता की आशा नहीं, निश्चिति देने आये थे जिसकी ओर जगत् बढ़ रहा है। जगत् एक दुर्भाग्यपूर्ण दुर्घटना नहीं है, यह एक ऐसा अचम्भा है जो अपनी अभिव्यक्ति की ओर गति कर रहा है।

जगत् को भविष्य के सौन्दर्य की निश्चिति की ज़रूरत है। और श्रीअरविन्द ने यह आश्वासन दिया है।

२७ नवम्बर १९७१

*

श्रीअरविन्द हमें शानदार भविष्य की ओर जाने का मार्ग दिखलाते हैं।

अगस्त १९७२

*

श्रीअरविन्द का सन्देश भविष्य पर विकीरित होता हुआ अमर सूर्यालोक है।

१५ अगस्त १९७२

*

श्रीअरविन्द ने हमें वह आध्यात्मिक शिक्षा दी है जो हमें भगवान् के सीधे सम्पर्क में आना सिखाती है।

जुलाई १९७२

*

क्षण-भर के लिए भी यह विश्वास करने में न हिचकिचाओ कि श्रीअरविन्द ने परिवर्तन के जिस महान् कार्य के लिए बीड़ा उठाया है उसकी पूर्णाहुति सफलता में ही होगी। क्योंकि यह वस्तुतः एक तथ्य है : हमने जो काम हाथ में लिया है उसके बारे में सन्देह की कोई छाया भी नहीं है...। रूपान्तर होगा ही होगा : कोई चीज़ उसे नहीं रोक सकती, सर्वशक्तिमान् के आदेश को कोई विफल नहीं कर सकता। समस्त शंकाशीलता और दुर्बलता को उठा फेंको और उस महान् दिवस के आने तक कुछ समय वीरता के साथ सहन करने का निश्चय करो, यह लम्बा युद्ध चिर विजय में बदल जायेगा।

*

श्रीअरविन्द की सहायता चिरन्तन है : हमें उसे ग्रहण करना सीखना चाहिये।

*

श्रीअरविन्द हमेशा हमारे साथ हैं, हमें प्रकाश देते हैं, रास्ता दिखलाते हैं और हमारी रक्षा करते हैं। हम पूर्णनिष्ठ बन कर ही उनकी कृपा के पात्र बन सकेंगे।

—श्रीमाँ

श्रद्धा तथा निष्ठा

अपने सारतत्त्व में श्रद्धा अन्तरात्मा की वह ज्योति है जो मन की शंका या प्राण के प्रतिरोध या शारीर चेतना के इन्कार के बावजूद सत्य की ओर खुली रहती है। जब यह स्वयं को सब जगह फैला देती है तब मन में पूर्ण विश्वास जम जाता है, एक तरह का आन्तरिक ज्ञान पनप उठता है जो बाहरी परिस्थितियों और आभासी इन्कारों का दृढ़ता से सामना करता है; तब प्राणिक तथा भौतिक सत्ता में सम्पूर्ण श्रद्धा-विश्वास और भरोसा प्रतिष्ठित हो जाते हैं और तब भले चारों ओर घनघोर अँधेरा घिर आये और आशा की कोई भी किरण न दिखायी पड़े, फिर भी व्यक्ति अपने उस सत्य के साथ दृढ़ता से चिपका रहता है जिस पर उसे श्रद्धा और विश्वास होता है।

*

आध्यात्मिक अर्थ में श्रद्धा कोई मानसिक विश्वास नहीं है जो डगमगाये या बदल जाये। मन में वह ऐसा रूप धारण कर सकती है, लेकिन तब डगमगाते हुए उस विश्वास को श्रद्धा का नाम नहीं दिया जा सकता, उसे तो उसका खाका या बाहरी रूप भर कहा जा सकता है। ठीक उसी तरह जैसे शरीर का बाहरी आकार बदल सकता है, लेकिन उसकी आत्मा वही समान बनी रहती है, वह कभी नहीं बदलती। श्रद्धा अन्तरात्मा के अन्दर की वह दृढ़ निश्चिन्ता, वह दृढ़ विश्वास है जो न फ़लाने या ढिमाके मानसिक विचार के तर्क पर, न परिस्थितियों पर और न ही मन, प्राण या शरीर की किसी गुज़रती हुई अवस्था पर निर्भर करता है। हो सकता है कि श्रद्धा छिप जाये, उसे ग्रहण लग जाये, यहाँ तक कि ऐसा लगने लगे कि वह निस्पन्द हो गयी है, लेकिन ग्रहण के तूफ़ान के हटते ही वह दोबारा पूरी तरह से चमक उठती है; जब व्यक्ति को ऐसा लगे कि वह हमेशा के लिए बुझ गयी है, अचानक वह अन्तरात्मा में सुलगती दिखलायी दे जाती है। हो सकता है कि मन में लगातार सन्देहों का ज्वार-भाटा उठता रहे, लेकिन अगर मन के अन्दर श्रद्धा बस गयी हो तो वह सन्देह-जाल में जकड़े मन को इस तरह आगे बढ़ायेगी कि सब चीज़ों के बावजूद वह अपने निर्दिष्ट लक्ष्य की ओर निरन्तर बढ़ता ही चले। श्रद्धा आध्यात्मिक तथा भागवत निश्चिन्ता है, अन्तरात्मा का आदर्श है; ऐसा गुण है जो जीवन में सम्पन्न न होने पर भी अन्तरात्मा को कभी नहीं छोड़ता, जब जीवन के तथ्य तथा दुराग्रही परिस्थितियाँ श्रद्धा को नकारती प्रतीत होती हैं तब भी वह अपने आदर्श से चिपकी रहती है। मानव जीवन का यह सामान्य अनुभव है; अगर ऐसा न होता तो मनुष्य नित्य परिवर्तनशील मन का खेलांगन या परिस्थितियों के हाथ एक खिलौना भर होता।

*

हमें अपने अन्दर यह श्रद्धा रखनी चाहिये कि हमारे अज्ञान और हमारी भूलों के बावजूद, विरोधी आक्रमणों के बावजूद और किसी भी तात्कालिक आभासी असफलता के बावजूद, 'भागवत इच्छा' ही हमें सभी परिस्थितियों से उबार कर, हमारी अन्तिम उपलब्धि की ओर लिये जा रही है। यह श्रद्धा हमें धीरज प्रदान करती है; यह वह श्रद्धा है जो जो कुछ घटित होता है उसे निर्णायक न मानते हुए भी ऐसी वस्तु के रूप में स्वीकार कर लेती है जिसमें से होकर उसे गुज़रना ही है। एक बार धीरज या समचित्तता के स्थापित होने के बाद एक और प्रकार की श्रद्धा को भी पाया और विकसित किया जा सकता है—उसमें अतिमानसिक चेतना का पुट मिल जाता है और तब व्यक्ति अपनी वर्तमान परिस्थितियों पर विजय पाकर स्वयं अपना भविष्य गढ़ सकता है और 'परात्पर प्रभु' के 'संकल्प' की सिद्धि को धरती पर उतारने में मदद कर सकता है।

पार्थिव लीला की आवश्यकताओं के कारण 'वैश्व प्रभु' की ओर उठने वाली श्रद्धा की क्रियाशीलता की शक्ति सीमित हो जाती है।

इन सीमाओं से पूरी तरह से छुटकारा पाने के लिए व्यक्ति को 'परात्पर प्रभु' तक उठना ही होगा।

*

श्रद्धा-विश्वास अन्तरात्मा की किसी ऐसी चीज़ के विषय में गवाही है जो अभी अभिव्यक्त, उपलब्ध या अनुभूत नहीं हुई है, परन्तु फिर भी जिसे हमारे अन्दर का 'ज्ञाता' सभी लक्षणों का अभाव होने पर भी, सत्य या अनुसरण करने अथवा प्राप्त करने-योग्य परम वस्तु अनुभव करता है। यह चीज़ उस समय भी हमारे अन्दर बनी रह सकती है जब मन में कोई दृढ़ विश्वास न हो, यहाँ तक कि जब प्राण संघर्ष करता, विद्रोह करता और अस्वीकार करता हो। ऐसा कौन है जो योगाभ्यास करता हो और जिसके सामने निराशा और असफलता और अविश्वास और अन्धकार के काल, बहुत लम्बे-लम्बे काल न आते हों? परन्तु कोई चीज़ उसमें ऐसी होती है जो उसे सहारा देती है और उसके बावजूद बनी रहती है, क्योंकि वह अनुभव करती है कि जिस चीज़ का वह अनुसरण कर रही थी वह अब भी सत्य है और इसे वह अनुभव ही नहीं करती बल्कि, उससे कहीं अधिक, वह इसे जानती है। योग की मौलिक श्रद्धा, जो अन्तरात्मा में निहित होती है, यह है कि 'भगवान्' हैं और 'भगवान्' ही वह एकमात्र वस्तु हैं जिसकी खोज करनी चाहिये—जीवन में दूसरी कोई चीज़ ऐसी नहीं जो उसकी तुलना में प्राप्त करने-योग्य हो। तुम्हारे अन्दर बढ़ती हुई यही श्रद्धा तुम्हें योग के लिए यहाँ लायी और यह भी कि तुम्हारे अन्दर न यह श्रद्धा चुक गयी है और न ही कम हुई है—जैसा कि तुम अपनी चिड़ियों में लिख रहे हो—बल्कि वह तो अधिक आग्रही और स्थायी हो गयी है। जब तक मनुष्य के अन्दर यह हो, आध्यात्मिक जीवन जीने की मोहर उस पर लगी रहती है और मैं तो यह भी कहूँगा कि भले उसकी प्रकृति बाधाओं से भरी हो, इन्कारों और कठिनाइयों से ठसाठस हो, भले उसके

हिस्से में संघर्ष के कई-कई साल लिखे हों, लेकिन आध्यात्मिक जीवन में उस पर सफलता का बिल्ला लग चुका है।

श्रद्धा

जब मैंने अन्तरात्मा के प्रकाश तथा भागवत 'पुकार' के प्रति निष्ठावान् होने की बात कही थी तब मैं तुम्हारे अतीत की किसी चीज़ या तुम्हारी किसी भूल के बारे में नहीं कह रहा था। मैं बस सभी संकटों और प्रहारों में भागवत पुकार की महान् आवश्यकता के ऊपर ज़ोर दे रहा था—यह कि तुम्हें सभी ग़लत सुझावों, आवेशों, प्रलोभनों से सावधानी के साथ बचना चाहिये, 'सत्य' का दामन थामे रहना चाहिये और 'प्रकाश' के आदेशात्मक संकेत का पालन करना चाहिये। सभी शंकाओं और समस्त उदासी के सामने निरन्तर दोहराते रहना चाहिये, "मैं भगवान् का हूँ, मैं असफल नहीं हो सकता"; अशुद्धता तथा अयोग्यता के सभी सुझावों से कहना चाहिये, "भगवान् के द्वारा चुना हुआ मैं 'अमरता' का बालक हूँ; मुझे बस अपने तथा 'उनके' प्रति सच्चा रहना है—विजय सुनिश्चित है; अगर मैं गिर भी गया फिर भी निश्चित है कि मैं उठ खड़ा होऊँगा"; सभी कामनाओं को खदेड़ दो और किसी भी ओछे आदर्श के पीछे मत चलो, उन सभी से कह दो, "यही उच्चतम है, यही वह परम सत्य है जो मेरे अन्दर की अन्तरात्मा को सन्तुष्ट कर सकता है; मार्ग की सभी अग्नि-परीक्षाओं को पार करता हुआ, कसौटियों पर खरा उतरता हुआ मैं दिव्य यात्रा के अन्त तक जाऊँगा।" 'प्रकाश' तथा 'पुकार' के प्रति निष्ठावान् रहने का मेरा यही तात्पर्य है।

अटल श्रद्धा बनाये रखो

किसी भी प्रकार के निरुत्साह को अपने ऊपर हावी न होने दो और 'भागवत कृपा' पर किसी प्रकार का अविश्वास न रखो। जो भी कठिनाइयाँ तुम्हारे बाहर हैं, जो भी दुर्बलताएँ तुम्हारे अन्दर हैं, यदि तुम अपनी श्रद्धा और अपनी अभीप्सा पर दृढ़तापूर्वक डटे रहो तो गुह्य 'शक्ति' तुम्हें उनमें से पार निकाल लायेगी और तुम्हें यहाँ वापस ले आयेगी। यदि तुम विरोधों और कठिनाइयों से दबे हुए हो, यदि तुम लड़खड़ाते हो, यदि तुम्हारे लिए मार्ग बन्द प्रतीत होता है फिर भी अपनी अभीप्सा को पकड़े रहो; यदि कुछ समय के लिए श्रद्धा मेघाच्छन्न हो गयी है तो मन और हृदय में हमेशा हमारी ओर मुड़ो और बादल छँट जायेंगे। पत्रों के रूप में बाहरी सहायता का जहाँ तक प्रश्न है, हम उसे तुम्हें देने के लिए पूरी तरह से तैयार हैं। परन्तु पथ पर डटे रहो—फिर अन्त में सारी चीज़ें अपने-आप खुल जायेंगी और परिस्थितियाँ आन्तरिक आत्मा के सामने झुक जायेंगी।

*

चाहे जितनी भी विरोधी चीज़ें तुम्हारे सामने मुँह बाये आ खड़ी हों, तुम्हें उनका सामना

साहस के साथ डट कर करना चाहिये और तब वे भाग खड़ी होंगी और सहायता तुम्हारा हाथ थाम लेगी। जीवन में रखने-लायक सच्चा मनोभाव है, श्रद्धा और साहस; यह हमेशा सफल होता है, आध्यात्मिक अनुभूति में भी ये ही पथ के सम्बल हैं।

*

संकट के क्षणों में 'भागवत' सुरक्षा पर विश्वास रखो, उसे पुकारो; हमेशा यही श्रद्धा रखो कि प्रभु जो चाहते हैं वही सर्वोत्तम है।

जो चीज़ तुम्हें प्रभु की ओर मोड़ती है उसे तुम्हें अपने लिए शुभ के रूप में स्वीकार करना चाहिये—वह सब अशुभ है जो तुम्हें भगवान् से दूर ले जाता है।

*

यही सच्चा संकल्प है। अपने हृदय में इसे मज़बूती के साथ बनाये रखो, भले सतह को दूसरी चेतना की लहरें क्यों न ढँक लें। अगर व्यक्ति अपने अन्दर संकल्प या श्रद्धा को इस तरह गहरे बो दे तो वह बनी रहती है और चाहे मन पर कभी धुँधलका छा जाये या निश्चय ठण्डा पड़ जाये, फिर भी वह देखता है कि लहरों में से निकलते हुए जहाज़ की तरह वह भी अपने-आप, फिर से ऊपर उठ आया है और अजेय रूप से अपने पथ पर बढ़ता चला जा रहा है जब तक कि बन्दरगाह पर नहीं पहुँच जाये।

*

इनको (श्रद्धा, समर्पण तथा समता) सत्ता के प्रत्येक भाग तथा प्रत्येक अणु में बसाना होगा ताकि सत्ता में कहीं भी विरोधी स्पन्दन की सम्भावना ही न रहे।

तुम्हें हमेशा यह श्रद्धा रखनी चाहिये कि निम्न प्रकृति उभरने की चाहे जितनी कोशिश करे, चाहे जितने विरोधी प्रहार हों, विजय तुम्हारी ही होगी और रूपान्तर सुनिश्चित है।

*

'प्रकाश' की विजय में सुदृढ़ श्रद्धा बनाये रखो और जड़-भौतिक के प्रतिरोधों का शान्त समता के साथ सामना करो तथा मानव व्यक्तित्व को उसके अपने रूपान्तर के पथ पर चलने दो।

*

भले चाहे जितना घना अन्धकार हो—और यह जगत् तथा मनुष्य की भौतिक प्रकृति उससे एकदम भरी हुई है—फिर भी सच्चे 'प्रकाश' की एक किरण अन्ततः दसगुने अन्धकार के ऊपर विजय पा सकती है। उस पर विश्वास रखो और हमेशा उससे चिपके रहो।

—श्रीअरविन्द

अप्रैल १९७२ के दो वार्तालाप

२ अप्रैल १९७२

माताजी की कुछ शिष्यों से हुई बातचीत के कुछ अंश।
पहले चार परिच्छेद वे अंग्रेज़ी में बोली थीं।

मानवजाति ने शताब्दियों और सहस्राब्दियों से इस क्षण की प्रतीक्षा की है। वह आ गया है। पर वह है कठिन।

मैं तुमसे यह नहीं कहती कि हम यहाँ, धरती पर आराम करने या मौज करने के लिए हैं, अभी उसका समय नहीं है। हम यहाँ... नयी सृष्टि का मार्ग तैयार करने के लिए हैं।

शरीर में कुछ कठिनाई है इसलिए, खेद है, मैं सक्रिय नहीं हो सकती। इसका कारण यह नहीं है कि मैं बूढ़ी हूँ—मैं बूढ़ी नहीं हूँ। मैं तुममें से अधिकतर लोगों से ज़्यादा जवान हूँ। अगर मैं यहाँ निष्क्रिय हूँ तो इसका कारण यह है कि शरीर ने अपने-आपको निश्चित रूप से रूपान्तर की तैयारी के लिए दे दिया है। लेकिन चेतना स्पष्ट है और हम यहाँ काम के लिए हैं—आराम और मौज बाद में आयेंगे। चलो, हम अपना काम करें।

मैंने तुम्हें यही कहने के लिए बुलाया है। तुम जो ले सकते हो लो, जो कर सकते हो करो, मेरी सहायता तुम्हारे साथ रहेगी। सभी सच्चे प्रयासों को अधिक-से-अधिक सहायता दी जायेगी। यह वीर बनने की घड़ी है।

वीरता वह नहीं है जो लोग कहते हैं। यह पूरी तरह एक हो जाने में है—और जो पूरी सच्चाई से वीर होने का निश्चय करेंगे, उन्हें भगवान् की सहायता हमेशा मिलेगी। बस!

तुम इस समय यहाँ, यानी, धरती पर इसलिए हो क्योंकि एक समय तुमने यह चुनाव किया था—अब तुम्हें उसकी याद नहीं है, पर मैं जानती हूँ—इसी कारण तुम यहाँ हो। हाँ, तुम्हें इस कार्य की ऊँचाई तक उठना चाहिये, तुम्हें प्रयास करना चाहिये, तुम्हें सभी कमज़ोरियों और सीमाओं को जीतना चाहिये; और सबसे बढ़ कर तुम्हें अपने अहंकार से कहना चाहिये: “तुम्हारा समय बीत गया।” हम एक ऐसी जाति चाहते हैं जिसमें अहंकार न हो, जिसमें अहंकार की जगह ‘भागवत चेतना’ हो। हम यही चाहते हैं: एक ‘भागवत चेतना’ जो जाति को विकसित होने और अतिमानसिक सत्ता को जन्म लेने दे।

अगर तुम यह समझते हो कि मैं यहाँ इसलिए हूँ क्योंकि मैं बद्ध हूँ तो यह सच नहीं है। मैं बद्ध नहीं हूँ। मैं यहाँ इसलिए हूँ क्योंकि मेरा शरीर रूपान्तर के प्रथम प्रयास के लिए अर्पित है। श्रीअरविन्द ने मुझसे यह कहा था। हाँ, तो मैं इसे कर रही हूँ। मैं नहीं चाहती कि कोई और मेरे लिए यह करे क्योंकि... क्योंकि यह बहुत सुखकर नहीं है। लेकिन मैं इसे खुशी से

कर रही हूँ—परिणामों के लिए; इससे हर एक लाभ उठा सकेगा। मैं केवल एक चीज़ माँगती हूँ : अहं की बात मत सुनो।

अगर तुम्हारे हृदयों से एक सच्ची “हाँ” निकलती है तो तुम मुझे पूरी तरह सन्तुष्ट करोगे। मुझे शब्दों की ज़रूरत नहीं है, मैं चाहती हूँ तुम्हारे हृदयों की सच्ची निष्ठा और लगाव। बस, इतना ही।

१२ अप्रैल १९७२

माताजी शिष्य को एक छपा हुआ कार्ड देती हैं
जिस पर उनके चित्र के साथ यह सन्देश छपा है :

“अन्ततः ‘भागवत’ इच्छा के विरुद्ध कोई मानवीय इच्छा
सफल नहीं हो सकती।

“आओ, हम अपने-आपको जान-बूझकर, ऐकान्तिक रूप से
भगवान् की ओर रखें। अन्त में विजय निश्चित है।”

—श्रीमाँ

आश्चर्य की बात है कि मानव-स्वभाव इसका किस तरह विरोध करता है। साधारण मानव-स्वभाव ऐसा है कि अपनी इच्छा से प्राप्त पराजय दूसरी तरह से प्राप्त विजय की अपेक्षा ज़्यादा पसन्द करता है। मुझे ऐसी चीज़ों का पता लग रहा है... अविश्वसनीय—अविश्वसनीय।

मानव मूढ़ता की गहराई अविश्वसनीय है। अविश्वसनीय।

ऐसा लगता है मानों वह ‘शक्ति’ जिसके बारे में मैंने कहा था^१ इस तरह नीचे जा रही थी (अविचलित अवतरण की मुद्रा), गहरी, और गहरी, अवचेतना की ओर।

अवचेतना में ऐसी चीज़ें हैं... अविश्वसनीय—अविश्वसनीय। मैं यही देखने में रातों-पर-रातें बिता रही हूँ और ‘शक्ति’ नीचे, नीचे अनिवार्य रूप से चलती चली जा रही है।

और तब मानव अवचेतना चिल्ला पड़ती है : “ओह! नहीं, अभी नहीं, अभी नहीं—इतनी जल्दी नहीं!” और इसी के विरुद्ध संघर्ष करना पड़ता है। यह व्यापक अवचेतना है।

और स्वभावतः, प्रतिरोध विभीषिकाओं को लाता है, पर तब व्यक्ति कहता है : “लो देख लो, तुम्हारी क्रिया कितनी लाभदायक है! यह विभीषिकाएँ लाती है।” अविश्वसनीय, अविश्वसनीय मूढ़ता।

तुम्हें... भगवान् को कस कर थामे रहना चाहिये।

क्या तुम्हें दिखायी नहीं देता? क्या यह अपने-आपमें समुचित कारण नहीं है? यह कहती

^१ २१ फ़रवरी १९७२ का अवतरण (“वाञ्छित प्रगति को प्राप्त करने के लिए ज़बरदस्त दबाव”)

है : “देखो, तुम्हीं देखो न, यह तुम्हें कहाँ लिये जा रही है, देख लो।”... ओह! यह... केवल प्रतिरोध ही नहीं है, यह विकृति है।

जी, हाँ।

यह एक विकृति है।

जी, जी हाँ, माताजी, मैं स्पष्ट रूप से देख रहा हूँ, मैं बहुत स्पष्ट रूप से देख रहा हूँ कि यह सचमुच एक विकृति है।

यह एक विकृति है।

लेकिन ऐसा लगता है कि कोई ऐसी चीज़ है जो किसी का हुकुम नहीं मानती।

नहीं, बस, करना... अगर हो सके तो सुनो ही मत, यह ज़्यादा अच्छा है, लेकिन अगर तुम सुनते हो तो तुम्हें सारे समय बस, यही उत्तर देना है : “मैं परवाह नहीं करता, मुझे परवाह नहीं है।” “तुम मूढ़ बन जाओगे”—“मुझे परवाह नहीं।” “तुम अपना सारा काम चौपट कर लोगे”—“मुझे परवाह नहीं”... इस प्रकार की सभी विकृत युक्तियों के लिए तुम्हारा उत्तर होगा : “मुझे परवाह नहीं।”

अगर तुम्हें यह अनुभूति प्राप्त हो सके कि भगवान् ही सब कुछ कर रहे हैं तो तुम एक अटल श्रद्धा के साथ कह सकते हो : “तुम्हारी सारी दलीलों का कोई मूल्य नहीं; भगवान् के साथ होने का आनन्द, भगवान् के बारे में सचेतन होना सबसे बढ़-चढ़ कर है—सृष्टि से बढ़ कर है, जीवन से बढ़ कर है, सुख से बढ़ कर है, सफलता से बढ़ कर है, सबसे बढ़ कर है—(माताजी एक उँगली उठाती हैं) ‘वह’!

तब सब कुछ ठीक रहता है। और बस, समाप्त।

ऐसा लगता है मानों ‘वे’ प्रकृति की बुरी-से-बुरी चीज़ों को प्रकाश में धकेल रहे हैं, प्रकाश में, इस ‘शक्ति’ के साथ सम्पर्क में ज़बरदस्ती ला रहे हैं... ताकि वे समाप्त हो जायें।

और तब ‘वह’ उसके साथ चिपक जाता है जो हमारे अन्दर सद्भावनापूर्ण था।

एक ऐसा क्षण आता है जब सब कुछ बिलकुल अद्भुत होता है, लेकिन तुम्हें ऐसे घण्टों में से गुज़रना पड़ता है जो सुखकर नहीं होते।

जी हाँ, ऐसे अवसर आते हैं जब व्यक्ति अपने-आपसे पूछता है कि क्या सब कुछ बुहार कर फेंक तो नहीं दिया जायेगा।

(माताजी हँसती हैं) यह बेतुका है! बेतुका। यह तो प्रतिरोध है जिसे पूरी तरह बुहार कर फेंका जायेगा।

लेकिन...।

(माताजी अपने भीतर डूब जाती हैं।)

मुझे अधिकाधिक ऐसा लग रहा है कि बस एक ही उपाय है...। (माताजी हँसती हैं) इसका एक मजेदार चित्र बनता है: मन के ऊपर बैठ जाओ। मन के ऊपर बैठ जाओ: “चुप रहो।” यही एक उपाय है।

तुम मन पर बैठ जाओ (माताजी एक टकोर देती हैं): “चुप रहो।”

(मौन)

अवचेतना में पिछले प्रलयों की स्मृति है और यही स्मृति हमेशा यह भाव दिया करती है कि सब कुछ लुप्त हो जायेगा, सब कुछ नष्ट हो जायेगा।

लेकिन अगर सच्चे प्रकाश में देखो तो केवल एक अभिव्यक्ति लुप्त होगी और उससे ज़्यादा सुन्दर अभिव्यक्ति आयेगी। तेओं ने मुझसे कहा था कि यह सातवीं और अन्तिम अभिव्यक्ति है। मैंने तेओं की बात श्रीअरविन्द को बतलायी और श्रीअरविन्द इससे सहमत थे क्योंकि उन्होंने कहा: यही अतिमन की ओर रूपान्तर देखेगी। लेकिन उसके लिए, अतिमन के लिए मन को **नीरव होना होगा!** इससे मुझे हमेशा ऐसा लगता है (हँसते हुए), मानों एक बच्चा मन के सिर पर बैठा खेल रहा है (एक बच्चे के पाँव हिलाने की मुद्रा), मन के सिर पर!... अगर मैं अब भी चित्र आँक सकती तो यह एक मजेदार चीज़ होती। मन—यह मोटा-ताज़ा पार्थिव मन (माताजी गाल फुलाती हैं), जो अपने-आपको इतना महत्त्वपूर्ण और अपरिहार्य समझता है, उसके सिर पर बैठ कर बच्चा खेल रहा है! बहुत मनोरञ्जक है यह।

आह, वत्स, हममें श्रद्धा नहीं है। जैसे ही श्रद्धा होती है... हम कहते हैं: “हम दिव्य जीवन चाहते हैं”—फिर भी हम उससे डरते हैं! लेकिन जैसे ही डर चला जाता है और हम सच्चे होते हैं... सब कुछ सचमुच बदल जाता है।

हम कहते हैं: “हमें यह जीवन अब और नहीं चाहिये” और (हँसते हुए) कोई चीज़ है जो उससे चिपकी रहती है!

कितना हास्यास्पद है यह।

हम अपने पुराने विचारों से चिपके रहते हैं, अपनी पुरानी... इस पुरानी दुनिया से चिपके रहते हैं जिसे गायब हो जाना चाहिये—और हम डरते हैं!

और ‘दिव्य बालक’ मन के सिर पर बैठा खेल रहा है!... काश! मैं यह चित्र बना

पाती। यह अद्भुत है।

हम ऐसे मूढ़ हैं कि यहाँ तक कह बैठते हैं (माताजी खीजी हुई प्रतिष्ठा के लहजे में) :
“यह भगवान् की भूल है, उन्हें ऐसा नहीं करना चाहिये।” यह हास्यास्पद है, वत्स।

(मौन)

मेरी दृष्टि में सबसे अच्छा उपाय (यानी, सबसे सरल) है : पूरी सच्चाई और निष्कपटता के साथ “जैसी ‘तेरी’ इच्छा। जैसी ‘तेरी’ इच्छा।” और तब—तब समझ आती है। तब तुम समझते हो। लेकिन तुम मानसिक रूप में नहीं समझते, वह यहाँ नहीं है (माताजी अपना सिर छूती हैं)।

“जैसी ‘तेरी’ इच्छा।”

—श्रीमाँ

श्रीअरविन्द के उत्तर

(६९)

‘स’ का स्पर्श करना और उसे आलिंगन में भर लेने का परिणाम भी इस क्रिया से छूट जाने के लिए मेरे लिए काफ़ी न था। ‘व’ के साथ सम्पर्क का परिणाम भी छूने की अपनी आदत को वश में करने के लिए काफ़ी न था। ‘च’ के साथ मैं ज्यादा आज्ञादी ले रहा था, और शायद मैं उसे भी प्रायः वही आज्ञादी दे भी रहा था, लेकिन ३१ को जो हुआ उसकी तुलना में तो वह सब कुछ नहीं था।

मैंने रात के नौ बजे उसे अपने कमरे पर बुलाया और वह रात ११.३० तक बैठी रही। उसका वातावरण बुखार जैसे ताप का था और वह अवसाद तथा बेचैनी की अवस्था में थी। मैंने उसे अपने पास बिठा कर पढ़ना शुरू किया। उसने मुझे ऐसे देखा मानों उसके शरीर में दर्द हो। मैंने उसका हाथ अपने हाथ में ले कर उसकी पीठ सहलायी जहाँ वह दर्द की शिकायत कर रही थी। उसने मुझे छूने से मना कर दिया क्योंकि इससे मैं सम्भवतः अशान्त हो रहा था। फिर मेरे स्पर्श से वह अधिकाधिक शान्ति अनुभव करने लगी और वह अन्दर एकाग्रता में चली गयी। उसे सहलाते हुए, बीच-बीच में मेरे अन्दर कामुक संवेदन जागा। लेकिन मुझे यह मानना पड़ेगा कि उसका स्पर्श न करने के लिए कहने का सारा श्रेय उसी को जाता है, क्योंकि उसे लगा कि मैं कामुक विक्षोभ का शिकार बन जाऊँगा।

कल (पहली तारीख को) उसने मुझसे पूछा कि क्या पिछले दिन की घटना से मैं विक्षुब्ध हो गया था? मैंने कहा कि हाँ, मैं हो गया था। तब उसने कहा कि अब से वह मुझसे दूर बैठा करेगी और मुझे कभी उसका स्पर्श नहीं करने देगी। मैंने कहा कि मैंने निश्चय कर लिया है कि अब से मैं किसी को भी छूने की अपने-आपको कभी अनुमति ही नहीं दूँगा, क्योंकि मैं जानता हूँ कि किसी का स्पर्श करने, सहलाने और आलिंगन करने से कामुक संवेदन और उससे उत्पन्न भौतिक परिणामों को कहीं अधिक मात्रा में मुझे भुगतना पड़ेगा। मैंने उसे विश्वास दिलाया कि अब मेरे द्वारा उसे छुए जाने की कोई सम्भावना ही नहीं है, क्योंकि इसकी अशुद्धि के साथ-साथ सामाजिक दृष्टि से भी यह ठीक नहीं है। उसने कहा कि वह भी यथासम्भव संयत रहेगी। इस सबके पीछे उसे छू पाने और फिर भी शान्त बने रहने का मेरा कुटिल सिद्धान्त बार-बार झाँक रहा था और यह भी कि वस्तुतः सेक्स की भावना को पूरी तरह से जीतने के लिए व्यक्ति को, जब-जब सम्भव हो, स्पर्श करना और दुलारना-सहलाना चाहिये। अब अपने इस सिद्धान्त को अलविदा कहने का समय आ गया है।

हाँ। निस्सन्देह यह एक विरोधाभास है जिसे भौतिक मन कामुक क्रिया पर परदा डालने के लिए सामने रखता है।

जब व्यक्ति भौतिक पर उतर आता है तो क्या इसका यह मतलब होता है कि मानसिक तथा प्राणिक कठिनाइयों की व्यापकता समाप्त हो गयी है या फिर कम-से-कम उनका अधिकांश तो खतम ही हो गया है।

कठिनाइयों के बड़े हिस्से के समाप्त हो जाने पर भी जो बचा रहता है वह भौतिक चेतना पर अपनी पकड़ बनाये रखता है। इसके साथ (भौतिक चेतना की विशेष कठिनाइयों के साथ भी) सीधे जड़-भौतिक पर निबटना होता है और अवचेतन में धँसी इनकी जड़ों को मूल से उखाड़ना होता है।

मैंने 'ट' से वह सब सुना जो औषधालय में घटा। मुझे कुछ अन्दाज़ तो था कि 'ड' का डॉ. 'ब' के साथ सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध नहीं है, लेकिन औषधालय न जाने की चीज़ को मैंने इसके साथ नहीं जोड़ा। मैं जानना चाहता हूँ कि अगर उसके न जाने से काम बन्द हो गया हो और अगर आवश्यकता हो, तो उसके स्थान पर मेरा जाना उपयोगी हो सकता है क्या?

'ब' के साथ असामञ्जस्य बहुत अरसे से चल रहा था, लेकिन हाल ही में 'ड' की तरफ़ से इसमें उग्रता की मात्रा बहुत बढ़ गयी, वह माताजी के आदेशों का पूरी तरह से उल्लंघन कर रहा है और अजीब से दुराग्रही व्यवहार पर उतर आया है (उसे दी गयी सभी सम्भव छूटों के बावजूद) और इसकी वजह से उसके साथ काम करना असम्भव हो गया। बहरहाल, 'ब' और 'र' से कहा गया है कि वे काम चलाते रहें, क्योंकि 'ड' ने लिखा है कि उसे वहाँ के काम की ज़िम्मेदारी से मुक्त कर दिया जाये और वह 'गेस्ट हाउस' में चला गया है। मुझे अभी तक यह पता नहीं है कि इसका स्थायी समाधान क्या होगा। जब वहाँ मुश्किलें ज़्यादा ही सिर उठाने लगी थीं तब माताजी ने तुम्हारे बारे में सोचा था, लेकिन मेरा ऐसा विचार है कि दवाई इत्यादि से तुम अधिक वास्ता नहीं रखना चाहते (मेरे खयाल से इस आशय की बात तुमने कभी लिखी थी) और 'ड' वहाँ जो काम किया करता था वह तुम्हें पसन्द नहीं आयेगा।

२ जनवरी १९३५

स्पर्श करने की क्रिया को भौतिक की कठिनाई नहीं माना जा सकता क्योंकि यह स्पष्ट रूप से प्राणिक क्रिया है, भले इसमें भौतिक की पूरी स्वीकृति हो। बाहरी रूप में भी स्पर्श करने को हर एक प्राणिक क्रिया ही कहेगा। जैसे ही उसमें कामुक

संवेदन प्रकट हो जाता है, मन पर दुःख छा जाता है। लेकिन जब स्पर्श में कोई कामुक संवेदन नहीं होता तो स्पर्श करने में व्यक्ति की कोई दिलचस्पी नहीं रह जाती। इसका यही अर्थ हुआ कि अपने-आपमें स्पर्श कोई अपवित्र क्रिया नहीं है।

यह प्राणिक-भौतिक है। सभी कामुक संवेदनों में प्राणिक तत्त्व होता ही है, लेकिन मात्र प्राणिक क्रिया स्पर्श या कामुक क्रिया में सीधे कोई दिलचस्पी नहीं लेती। उसे तो अधिक रस मिलता है भावनाओं के खेल में, आधिपत्य और दमन में, लड़ाई-झगड़ों और समझौतों में तथा प्राणिक शक्तियों के विनिमय इत्यादि में। वह तो प्राणिक-भौतिक चेतना स्पर्श, आलिंगन, कामुक क्रिया इत्यादि को इतना महत्त्व देती है।

चिकित्सा-शास्त्र में मेरी कोई विशेष रुचि नहीं है, जैसे मैं इमारत बनाने के विभाग में भी दिलचस्पी नहीं रखता। लेकिन आवश्यक हो तो मैं उसमें दिलचस्पी ले सकता हूँ। 'ड' जिस तरह का काम कर रहा था वह निश्चित रूप से मेरे लिए उतना मुश्किल या अनुपयुक्त नहीं हो सकता जितना उसके लिए था। शायद वह ऐसे क्षेत्र में विभिन्न प्रकार के परीक्षण करना चाहता था जहाँ परीक्षणों की कोई गुंजायश ही नहीं है, और लगता है कि उसे किसी और चीज़ की अपेक्षा दवाइयों में अधिक श्रद्धा है।

'ड' बहुत फुरतीला और दक्ष कम्पाउण्डर है और दवाइयों तथा उनके प्रभावों के बारे में बहुत दिलचस्पी लेता है—इसी वजह से वह औषधालय के लिए इतना लाभकारी था—लेकिन वह बड़ा डॉक्टर बनना चाहता था और हमेशा पढ़ता, सीखता रहता था और परीक्षण पर परीक्षण करना चाहता था। लेकिन स्वाभाविक है कि माताजी यहाँ साधकों के शरीर पर परीक्षण करने की अनुमति उसे कतई नहीं दे सकतीं। मेरे खयाल से औषधालय के काम से उसके असन्तोष का एक कारण यह भी था, हालाँकि इस मामले में उसने कभी कोई प्रतिरोध नहीं किया।

३ जनवरी १९३५

'त्र' ने आपका वह पत्र मुझे दिखलाया जो आपने उसकी चिट्ठी के जबाब में लिखा था। वह मुझसे उसका अर्थ समझना चाहता था। वह एक स्वप्न के बारे में था जिसमें एक महिला थीं। मुझे लगा कि वह उसी कामुक क्रिया की प्रतिच्छाया थी जो मेरे साथ ३१ को घटी थी—सपने में मेरे नाम का भी जिक्र था! या तो उस क्रिया के इतने प्रबल स्पन्दन उत्पन्न हुए कि वे घर के वातावरण में छा गये या फिर हो सकता है कि वे स्पन्दन अन्य सत्ताओं ने पकड़ लिये और उन्हें बढ़ा कर छितरा दिया।

निस्सन्देह, ऐसा सम्भव है—लेकिन औरों की तरह 'त्र' में भी कामना-वासना सम्बन्धी मुश्किलें हैं, इसलिए ऐसे सपनों का आना आसान होता है। यह सामान्य कामुक स्वप्न नहीं था बल्कि सेक्स और आध्यात्मिक अनुभव का मिश्रण-सा था जो प्राणिक स्तर के अमुक जगतों की विशेष चीज़ है। वह इनमें से किसी जगत् के साथ सम्पर्क में आ गया होगा।

४ जनवरी १९३५

मैंने 'ल' से पूछा कि उसके लिए 'च' से बातें करने का सबसे सुविधाजनक समय कौन-सा है। उसने मुझे समय बता दिया, लेकिन वह माताजी को इसके बारे में लिखना चाहती थी। वह बीच-बीच में 'च' के साथ—अगर 'च' चाहे—बातें करने की इच्छुक थी। मेरा उद्देश्य 'च' को मेरे प्रभाव से अधिक 'ल' के प्रभाव में रखना है क्योंकि 'च' के प्रति मेरी आसक्ति बढ़ गयी है और अगर इतना अधिक प्राणिक आकर्षण न होता तो कोई बात नहीं थी। जब मैंने 'च' से पूछा कि क्या मेरा उसे छूना नापसन्द है, उसने कहा, "अगर कोई हमें देख ले तो कैसा लगेगा?" मैंने उसे मेरे सवाल का सीधा जवाब देने के लिए कहा, और लोग क्या सोचेंगे इस सब पर ध्यान दिये बिना, उसे कैसा अनुभव हुआ यह बतलाने को कहा। कुछ समय बाद वह बोली कि उसे अच्छा नहीं लगा। यहाँ, मैं जानता हूँ कि उसने अपने-आपको धोखा दिया। दरअसल मैंने यह गौर किया है कि छूना और दुलराना उसे पसन्द है और प्रायः वह ऐसी चेष्टाएँ किया करती है, जैसे, अपना सिर झटके के साथ मेरे हाथ के करीब ले आना इत्यादि। अगर उसे यह नापसन्द होता तो मैं इतनी दूर नहीं जाता। इसका यह मतलब हुआ कि वह अपनी ही भावनाओं के बारे में अचेतन है! यहाँ 'ल' का प्रभाव लाभदायक हो सकता है, जब कि मेरा सम्पर्क उसकी प्राणिक गति को पोसता जान पड़ रहा है, हालाँकि पहली तारीख के बाद मैं इसे बढ़ावा न देने की कोशिश में लगातार लगा हूँ।

'ल' ने मुझे लिखा, लेकिन उसका कहना है कि 'च' के काम के समय के अतिरिक्त उसके पास दिन में ख़ाली समय बिल्कुल नहीं है : ऐसा नहीं लगा कि वह बहुत इच्छुक है। मैंने उसे सारा मामला समझा दिया (कि 'च' क्यों चाहती है) लेकिन मैंने सारी चीज़ 'ल' के निश्चय पर छोड़ दी है।

'च' का यह विचार कि उसके अन्दर कोई काम-वासना नहीं है, एकदम बकवास है—या तो वह अपने-आपको छल रही है या यह चीज़ वह खुद और न ही दूसरों के सामने स्वीकार करना चाहती है। किसी व्यक्ति को "अधिकार में लेने" का आवेश और उससे लल्लो-चप्पो करवाने की इच्छा उसके प्राण में प्रबल रूप से विद्यमान है—भले उसका मन इसको मानने से इन्कार करता हो। अगर वह प्रगति करना चाहे तो उसके मन और साथ ही प्राण को भी पूरी

तरह से सच्चा-निष्कपट, स्पष्टदर्शी होना चाहिये, और इन चीजों की आँख में आँख डाल कर इन्हें देखना चाहिये।

मैं सोचता हूँ कि अगर 'च' मेरी अपेक्षा 'ल' के पास ज्यादा जाये और उससे बातचीत करे तो अधिक अच्छा होगा। मुझे मालूम नहीं कि मैं उसके लिए किसी भी तरह सहायक हो सकता हूँ या नहीं। उसे किसी भी प्राणिक सम्पर्क की अनुमति देने से—जिसे वह तुरन्त पकड़ लेती है—मैं तो सम्भवतः उसकी प्रगति में बाधा बन कर रह जाऊँगा। मैं जानना चाहता हूँ कि आप ठीक-ठीक क्या चाहते हैं कि मैं करूँ—उससे एकदम से नाता तोड़ लूँ या कम-से-कम सम्बन्ध रखूँ या फिर जैसा है, वैसा चलने दूँ।

मेरे ख़याल से सबसे अच्छा होगा कि उसके साथ कम-से-कम सम्बन्ध रखो, जहाँ तक हो सके बस नियत समय पर मिलो और ऐकान्तिक रूप से केवल साधना-सम्बन्धी विषयों पर चर्चा हो, उदाहरण के लिए, मेरे दिये उत्तर के बारे में अगर उसे कुछ पूछना हो, इत्यादि।

उसने मुझे अपने वही पुराने लहजे में, काफ़ी विक्षुब्धता से भरी एक बहुत ही उत्तेजक चिट्ठी लिखी। मैंने उसका जवाब दे दिया। यह कितनी आश्चर्यजनक बात है कि वह अपने अन्दर के प्राणिक विक्षोभों से इतनी अनभिज्ञ है। मेरे ख़याल से पता नहीं कैसे, लेकिन अब तक वह बस सबसे अधिक भौतिक उत्तेजना तथा आवेग को ही काम-वासना मानती है, उन प्राणिक रूपों को नहीं जो कितनी ही नारियों में मौजूद होते हैं।

सत्य के दबाव का लिहाज़ किये बिना, पूरी तरह से वह मेरे अन्दर का प्राणिक हठ ही था जो चाहता था कि मैं उसकी गतियों में मज़ा लूँ। उचित तरीक़ा था कि गलत मोड़ के आने के साथ-साथ, झटक कर मैं उससे नाता तोड़ लेता, लेकिन मैंने ऐसा किया नहीं। दरअसल महीनों पर महीने मैं इन कामुक गतियों को स्वीकारता रहा। मुझे मालूम नहीं कि मैंने इससे दुःख भोगा या नहीं। शायद इतना दुःख नहीं भोगा क्योंकि आपने तीक्ष्णता के साथ मेरा विरोध नहीं किया, बल्कि इस कीचड़ से आपने मुझे धीरे-धीरे, सम्भाल कर निकाला।

वह भौतिक-प्राण में एक गाँठ थी जो तुम्हारी भौतिक चेतना में बनी रही क्योंकि—विचारशील मन और उच्चतर प्राण के प्रयासों के बावजूद—कोई चीज़ उसे सहारा दे रही और उससे चिपटी हुई थी। अगर स्वयं भौतिक मन और निम्नतर प्राण इसे अपनी स्वीकृति देना बन्द कर दें केवल तभी उस गाँठ को खोला जा सकता है। यही कारण था कि मैंने खुले तौर पर इतना दबाव नहीं डाला क्योंकि इस तरह के दबाव कामना में घी का काम कर उसे भड़का देते हैं। तुम्हें

अपने अन्दर से इस पर तब तक काम करते रहना होगा जब तक कि भौतिक चेतना उच्चतर संकल्प लेने के लिए तैयार नहीं हो जाती।

‘च’ स्वीकार करती है कि वह अमुक व्यक्तियों को देख कर कामुक रूप से बेचैन हो जाती है—उसने ‘ज’ का उदाहरण दिया। लेकिन ‘ड’ और मेरे साथ वह काफ़ी स्वाभाविक अनुभव करती है। मैंने उसे समझाया कि केवल यथार्थ संवेदन या एकदम भौतिक सम्पर्क ही नहीं, बल्कि पुरुषों का संग चाहना, उन्हें देख कर मुस्कुराना अथवा उन्हें तुम्हें छूने देना—ये सब भी प्राणिक सेक्स-क्रियाएँ हैं। दूसरों के साथ तुलना करने पर मैं उसकी मनोवृत्ति को अच्छी तरह से समझ सकता हूँ। जब मैं ‘प’ के साथ पढ़ता हूँ, वह पूरी तन्मयता से सुनती है और शान्त भाव से अर्थ समझने की कोशिश करती है—वह मेरे पास ही बैठती है, लेकिन मैं उससे आकर्षित नहीं होता। ‘स’ के साथ भी यही होता है। लेकिन ‘च’ का ध्यान मेरे पढ़ने में नहीं होता; वह मेरी तरफ़ ताकती ही रहती है और मुस्कुराने की कोशिश करती है। जब ऐसा लगता है कि वह ध्यान से सुन रही है वह भी आडम्बर ही अधिक होता है। उसमें वह सरलता और गति की वह सहज स्वतन्त्रता नहीं होती जैसी कामना-वासना के बन्धन से स्वतन्त्र व्यक्ति के अन्दर होती है। ‘ज’ ने एक बार बड़ी चतुराई से यह बात गौर की थी कि ‘च’ जब किसी व्यक्ति को चाहे तो उसके प्रति पूरी तरह से “समर्पित” हो सकती है और इसे वह प्रायः ख़तरे की सीमा तक ले जाती है। फिर भी, पिछली बार की तरह मैं उसे एकदम एक झटके से चलता नहीं कर सकता। बल्कि मैं उसे ‘ल’ या ‘ड’ के साथ सुरक्षित देखना चाहूँगा जो उसका मार्गदर्शन ज़्यादा अच्छी तरह कर सकेंगे।

इसका कारण यह है कि प्राण में कोई चीज़ थी जो यह चाहती थी, लेकिन उसे संयम में रखा गया था—केवल तभी जब दूसरे में भी वही समान चीज़ दिखी कि क्रिया-प्रतिक्रिया शुरू हुई और उसने भौतिक अभिव्यक्ति (स्पर्श करने इत्यादि की क्रिया) का रूप लेना चाहा। यही कारण है कि कुछ महिलाओं का सान्निध्य दूसरी महिलाओं से कहीं अधिक ख़तरनाक होता है—ऐसी महिलाओं की प्राणिक प्रवृत्ति बहुत तीव्र होती है और भले मन उस चीज़ में रस नहीं लेना चाहे, उसके लिए ज़रा भी उत्सुक न हो, लेकिन वह प्रवृत्ति दूसरों में अपने-आपको अभिव्यक्त करने की बहुत ही इच्छुक होती है। ‘व’ का अपने ऊपर बहुत अधिकार है; दूसरे कम मानसिक हैं इसलिए ‘ज’ जिसे आत्म-समर्पण का नाम देता है, उसमें वे फिसल जाती हैं—उदाहरण के लिए, पुरुष की कामना के प्रति मौन स्वीकृति देना क्योंकि यह स्वयं उनकी प्राणिक प्रवृत्ति को सन्तोष देती है।

५ जनवरी १९३५

मैंने कभी कल्पना भी नहीं की थी कि 'च' के साथ मेरी आसक्ति इतनी गहरी हो जायेगी। अब जब कि वह मेरे पास इतना नहीं आती, मैं उसकी अनुपस्थिति को ज्यादा महसूस कर रहा हूँ और मेरे अन्दर एक तरह की बेचैनी बनी रहती है कि वह ठीक तो है न, कहीं कुछ गड़बड़ तो नहीं है! आसक्ति को छोड़ना आसान नहीं है और मेरी तो रुलाई ही छूटने लगती है—हालाँकि छोड़ना तो मुझे पक्का है ही, क्योंकि मेरे अन्दर काम-वासना का मिश्रण जो है। कितनी ही बातों में वह मुझ पर निर्भर किया करती थी—वह मुझे सब कुछ बताती थी जो उसके साथ घटता था, और कुछ हद तक वह मेरी परवाह भी किया करती थी। इसलिए अब मेरा प्राण अपनी पकड़ को छोड़ना नहीं चाहता। दूसरों के लिए मुझे ऐसा अनुभव नहीं हुआ, यहाँ तक कि 'अ', 'स', 'र' और 'व' तक के लिए मुझे ऐसा महसूस नहीं हुआ जब मुझे उनके साथ नाता तोड़ना पड़ा था। बहुत अजीब बात है कि मैं, जो सामान्यतः कठोर और विरक्त-सा रहता हूँ, इतना कोमल, कमज़ोर, मुलायम और कहा जा सकता है कि दोष की हद तक भावुक बन गया हूँ!

उसने तुम पर अपनी जो निर्भरता दिखलायी है सम्भवतः वही तुम्हारे इस तरह अनुभव करने का कारण हो, क्योंकि इसी निर्भरता के द्वारा स्त्री पुरुष के साथ आसक्त होकर बड़ी आसानी से उनका स्नेह पाती है। दूसरों में ऐसी कोई चीज़ नहीं है, हर एक का—चाहे वह स्त्री हो या पुरुष—अपना प्रबल व्यक्तित्व होता है। मेरे खयाल से उसके साथ अपने अनुभव में तुम जिस भिन्नता का अनुभव करते हो उसका मूलभूत कारण यही है।

६ जनवरी १९३५

मेरे जीवन के बीस साल पहले की यादें तेज़ बौछार के रूप में मुझ पर आ बरसी हैं और उसके साथ उदासी का पहाड़ टूट पड़ा है। बारिश हमेशा मुझे मृत्यु, रोग, अकेलापन, काम-वासना, अकर्मण्यता और आलस्य की याद दिलाती है, क्योंकि बरसात के दिन सबसे ज्यादा आलसभरे होते थे, हिलने-डुलने की कतई इच्छा तक नहीं होती थी ऐसे मौसम में। ऐसे दिनों की घटनाएँ मेरे अन्दर यादों की बारात ले आती हैं और मैं प्रायः उन्हें जीने लगता हूँ।

बारिश की प्रवृत्ति होती है, प्राणिक-भौतिक चेतना के तमस् पर बल देना और उसके निराशाजनक सुरों को निकाल लाना। अपनी शिथिलता के कारण भौतिक तमस् काम-वासना इत्यादि को खुल खेलने का ज्यादा अवसर देता है।

दिन के समय में प्रायः अपने-आपको विचारों में 'च' से बातें करता हुआ पाता हूँ,

मानों वह मेरे पास हो। मुझे पता नहीं कि क्या यह विकृत मन की मात्र कल्पना है या उसके साथ मेरी सचमुच घनिष्ठता है या फिर उसकी प्राणिक सत्ता बहुधा मेरे पास रहती है। और इस तरह मैं गुह्य रूप से उस पर क्रिया करने की कोशिश करता हूँ।

प्राणिक मन के साथ इस तरह बातें करना बहुत सामान्य बात है। यह सूक्ष्म स्तर पर उन चीजों पर क्रिया करने का प्राण का तरीका है जिनमें वह रस लेता है, विशेष रूप से तब जब भौतिक क्रिया बन्द हो जाती है या उसे सीमित कर दिया जाता है।

आज का पत्र मैंने पढ़ा, उसमें 'च' ने यह स्वीकार किया कि मेरे प्रति काम-वासना की भावना से वह अछूती न थी। मैं भौचक्का रह गया क्योंकि वह हमेशा कहती रही है कि मेरे और 'ड' के प्रति कभी उसके अन्दर कामना-वासना की भावना नहीं जागी। वह कहती है कि मेरे सामने इसे अभिव्यक्त करने से वह डरती थी। मैंने इसे दूसरे तरीके से बूझा—अगर वह मुझे यह बता देती तो मुझसे घनिष्ठ सम्बन्ध टूट जाने का उसे भय था, क्योंकि वह जानती थी कि उसके कहने का स्वाभाविक परिणाम यही होता।

'च' की इस घोषणा को मैं कभी हज़म नहीं कर पाया कि उसके अन्दर तुम्हारे या दूसरों के लिए काम-वासना की कोई भावना ही नहीं है। निश्चय ही यह भावना उसके अन्दर स्पष्ट रूप में थी, इसका बहुत ही प्रबल तत्त्व था उसमें और उसके बारे में अनभिज्ञ वह उसके प्रति आँखें मीचे थी या फिर आत्म-वञ्चना की आदत से वह मजबूर है। हाँ, यह सम्भव है कि किसी के अन्दर यह भावना न भी हो, लेकिन यह चीज़ इतनी अपवाद-स्वरूप है कि इसके होने पर कोई घनिष्ठ या करीबी सम्बन्ध ठहर ही नहीं पाता।

जब मैं श्रीमाँ पर या आती हुई शान्ति और प्रेम पर एकाग्र होने की कोशिश करता हूँ तो मैं जल्दी ही ऐसे व्यक्ति को खोज लेता हूँ जिस पर मैं शान्ति और प्रेम न्योछावर कर सकूँ। तो इसका परिणाम यह होता है कि माँ पर एकाग्र होने की बजाय, 'च' का आकार बीच में आ जाता है और आन्तरिक रूप से माँ को प्रणाम करने के बदले मैं 'ल' को प्रणाम कर बैठता हूँ। कोई चीज़ आकर चेतना में बाधा डाल देती है और शान्ति तथा गभीर प्रेम का ठोस अनुभव जल्दी ही विलीन हो जाता या छितर जाता है। आज मैंने यह बात बड़े गौर से देखी कि अगर 'च' का आकार बीच में न आ जाता तो मैं बहुत ही गहरी एकाग्रता में डूब जाता, जिसे मैं प्रायः भुला बैठा हूँ।

निस्सन्देह यह तात्कालिक भूतकाल की गतियों का परिणाम है; भूतकाल को वापस लाने की भौतिक की आदत ही होती है जिसमें अब तक जीवन्त प्रभाव, आकार और गतियाँ स्पन्दित होते रहते हैं; या जब ऊपर से शक्ति भौतिक का स्पर्श करती है तो वह सामान्य स्पन्दनों को ऊपर उठा देती है। तुम्हें इस चीज़ का बहिष्कार करना होगा और इस पर विजय पानी ही होगी, ताकि पहले की एकाग्रता तथा शान्ति अपना स्थान ले लें और सबसे अधिक जड़-भौतिक चेतना में अपने-आपको प्रतिष्ठित कर लें—यह चीज़ तुम्हारे अन्दर आ ही रही थी कि तुम पथभ्रष्ट हो गये।

७ जनवरी १९३५

जहाँ मैं काम करता हूँ वहाँ जब 'ह' आकर ऐसे खड़ा हो गया मानों अपना सिक्का जमा रहा हो, तो मेरी समझ में नहीं आ रहा कि भला क्यों मेरी वहाँ से दूर चले जाने की इच्छा हुई। मुझे मालूम नहीं कि वह मेरे बारे में क्या सोच रहा था, लेकिन मुझे ऐसा लगा मानों चुपचाप वह मुझ पर दबाव डाल रहा हो या फिर उसकी तबीअत खराब हो। लेकिन इसका मुझ पर यह असर पड़ा कि मेरी आश्रम छोड़ कर चले जाने की इच्छा हुई, भले उसके बाद परिणाम कुछ भी क्यों न हों। मैं अपने कमरे की तरफ़ भागा और मैंने जल्दी-जल्दी एक चिट्ठी लिखी, जो मैंने बाद में फाड़ कर फेंक दी। फिर मैं वापस आया और मैंने उसे उसी जगह पर पाया। मेरी जगह का निरीक्षण करने देने के लिए मैं उसे वहीं छोड़ कर पुस्तकालय चला आया और अपना ध्यान बँटाने के लिए 'ज' की कविताएँ पढ़ने लगा।

'Grand Godon' की इमारत की दीवार में कुछ दोष रह गया, लेकिन इसकी वजह यह है कि उसने मुझे पूरी चीज़ नहीं बतलायी। उसको मुझे पूरी योजना और निर्माण के हर पड़ाव के बारे में सब बतलाना चाहिये था, लेकिन उसने बस मुझे आधी बात ही बतलायी और मिस्त्रियों को ख़ुद आदेश देने लगा। स्वाभाविक है कि मैं समझ नहीं पाया और दोष रह गया। मुझे आपसे स्पष्ट रूप से कह देना चाहिये कि मैं उसके साथ इस तरह के मौन असामञ्जस्य में काम नहीं कर सकता। मैं हमेशा उसके साथ स्पष्टवादी रहा हूँ और उसे भी वैसा रहना चाहिये था। इसकी बजाय, अगर वह मुझ पर निश्शब्द दबाव डाले, जैसा कि उसने किया, तो मुझे काम या आश्रम छोड़ देना होगा।

मुझे नहीं लगता कि 'ह' का तुम पर निश्शब्द दबाव डालने का कोई इरादा था। ऐसा लगता है कि अगर उसके अन्दर तुम्हारे काम के विरुद्ध कोई शिकायत होती तो वह तुमसे बात करता या कम-से-कम कोई इशारा करता या सुझाव देता। वह जानता है कि माताजी चाहती हैं कि तुम्हारे और उसके बीच सामञ्जस्य रहे और वह स्वयं इसकी कामना करता है।

सवरे उठने के साथ मेरे अन्दर काम-वासना के भाव उठने लगे। शुरू में बिना किसी कल्पना के वह बस भौतिक चीज़ थी, लेकिन उन भावों के बढ़ने के साथ-साथ कल्पनाएँ चित्रित होने लगीं। सवरे से लेकर दोपहर तक मैं यहाँ से चले जाने, बाहर रहने और वहाँ अपने रहने का बन्दोबस्त करने की कल्पनाओं की बड़ी ही शुष्क अवस्था में डूबा रहा। क्या आश्रम में किसी के साथ ऐसा हो रहा है जिसका असर मुझ पर पड़ रहा है?

बहुत सम्भव है कि इस तरह की कोई चीज़ वातावरण में घूम रही हो। यह समय बहुत ही संघर्ष का समय है—वे भी जो मानसिक तथा प्राणिक स्तरों पर साधना में सफलतापूर्वक उत्तीर्ण हो गये, उन पर भी इस समय भौतिक चेतना की कठिनाइयाँ, उसका अन्धकार, असमर्थता, उदासी इत्यादि टूट पड़े हैं। जो उभर आया है, नया नहीं है बल्कि भौतिक स्तर की वही पुरानी कठिनाइयाँ हैं जिन्हें तमस् तथा 'अप्रकाश' सहारा देते हैं। इसलिए इन सुझावों तथा आवेशों का इस तरह चक्कर लगाना अस्वाभाविक नहीं है।

९ जनवरी १९३५

—श्रीअरविन्द